चेतना विकास मूल्य शिक्षा

कक्षा 10

अनुक्रमाणिका

भाग	पाठ	नाम	पृष्ठ सं.
		वंदना	
1. मानव लक्ष्य			
	पाठ 1	समाधान	5
	पाठ 2	समृद्धि	9
2. अस्तित्व सहज व्यवस्था			
	पाठ 3	अस्तित्व सहज व्यवस्था	15
	पाठ 4	हमारी धरती एक व्यवस्था	22
	पाठ 5	पदार्थ अवस्था	26
	पाठ 6	प्राण अवस्था	29
	पाठ 7	जीव अवस्था	32
	पाठ 8	ज्ञान अवस्था	34
	पाठ 9	मानव संचेतना	40
3. अखंड समाज			
	पाठ 10	परिवार व्यवस्था	48
	पाठ 11	मानव संबंध	51
	पाठ 12	मानव मूल्य	57
	पाठ 13	सामाजिक पूरकता	65
	पाठ 14	उत्सव	69

4. सार्वभौम व्यवस्था

पाठ 15	मानवीय इतिहास	73
पाठ 16	मानवीय व्यवस्था	76
पाठ 17	शिक्षा–संस्कार	79
पाठ 18	दृष्टा–कर्ता–भोक्ता	83
पाठ 19	यंत्र प्रमाण–मानव प्रमाण	89
पाठ 20	स्थिति–गति	91
पाठ 21	शरीर व्यवस्था	94
पाठ 22	मानवीय आहार	98
पाठ 23	उत्पादन–कार्य	103
पाठ 24	विनिमय–कोष	106
पाठ 25	न्याय–सुरक्षा	109

वंदना

वंदना उनकी करें, जिनसे सुशोभित है धरा।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा।।

जिनसे दिशा हमको मिली, नित मानवीय मार्ग की।
पथ मिला निश्चित हमें थी, कामना जिस मार्ग की।।
कृतज्ञता से सौम्यता की, नित्य आयी निरंतरा।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा।।

जिनका है चिन्तन शुभ यही, कैसे हो मानव सुखमयी?
प्रेरणा से जिनकी है, मानव का जीवन सुखमयी।।
श्रद्धा समर्पित जिनसे आए, मानवीय परम्परा।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा।।

सबके सुख की कामना ले, रहती जिनकी कल्पना।
निकली जिनसे मानवीय पथ, हेतु निश्चित योजना।।
पूज्यता उन हेतु जिनसे, है सुसज्जित वसुन्धरा।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा।।

– **प्रदीप पूरक** बिजनौर, (उ.प्र.)

पाठ–1

समाधान

हम सभी मानव के लक्ष्य – समाधान, समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व है। इन्हें हम मानवीय लक्ष्य भी कहते हैं ओर यह सार्वभोम और निरंतर है। यह हर मानव के लिए हैं अतः यह सार्वभोम हैं क्योंकि यह बदलते नहीं है इसलिए निरंतर हैं। हम सभी मानव इस प्रकार, मानवीय लक्ष्य के अर्थ में समान है।

मानव में समाधान का अर्थ है कि उसका अपनी हर स्थिति/परिस्थिति में समाधान अर्थात उत्तर के साथ जीना। हम मानव क्यों जीयें और कैसे जीयें – यह मूल उत्तर हैं और जिसमें स्पष्टता होने से हम स्वयं में समाधान की स्थिति को प्राप्त होते हैं। एक और दृष्टिकाण से देखे तो हमें यह स्पष्अ होगा की हमारे हर प्रश्न में मूल में भी यह दो ही प्रश्न है – हम क्यों जीयें और हम कैसे जीयें। मूल उत्तर में स्पष्टता ही हमारे समाधान का केंद्र बिंदु हैं। स्पष्टता ही स्वयं में निश्चिय के रूप में होती है, जिसको हम स्वयं में विश्वास के रूप में अनुभव करते हैं।

मानव समधानित होता है और मानव में चैतन्य शक्ति 'जीवन' में ही समाधान की स्थिति प्राप्त होती है। 'जीवन' में समाधान की स्थिति का मुख्य लक्षण – संशय से मुक्त होना और चित्त में निशचित है, जो की स्वयं में विश्वास के रूप में हम अनुभव करते हैं। समाधान की स्थिति में स्वयं में निश्चय या निश्चितता की वस्तु, निम्नलिखत है –

– मानवीय लक्ष्य का निश्चय (विवेक)

– मानवीय लक्ष्य की पूर्ति की दिशा का निश्चय (विज्ञान)

– व्यवहार में मानव संबंध का निश्चय (मानवीय व्यवहार)

– प्रकृति के साथ कार्य में मानव–प्रकृति के संबंध का निश्चय (मानवीय कार्य)

– व्यवस्था में भागीदारी में पांच आयाम का निश्चय (भागीदारी)

– परिवार से विश्व परिवार तक मानव मानव संबंध का निश्चय (अखंड समाज)

– परिवार व्यवस्था से लेकर विश्व परिवार व्यवस्था में मानव प्रकृति संबंध सहित भागीदारी का निश्च (अखंड समाज सार्वभोम व्यवस्था)

– मानवीय परंपरा का निश्चय (मानवीय परंपरा)

मानव जीवन के इन तथ्यों में पूर्ण रूप से संशय मुक्त हो जाना या उपरोक्त वस्तु का सुनिश्चित हो जाना ही स्वयं में समाधान की स्थिति है। ध्यान देने की बात यह है कि निश्चितता का आधार ज्ञान में अनुभूत होने से है। इसलिए ज्ञान ही समाधान का आधार है, आश्रय है। ज्ञान को हम 3 बिंदु में समझ सकते हैं –

– जीवन ज्ञान

– अस्तित्व दर्शन ज्ञान

– मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान

ज्ञान, के यह तीन आयाम है, जो हमारे संशय या विकल्प से मुक्त होने का और हमारे संकल्प का आधार हैं। इस प्रकार ज्ञान, विवेक और विज्ञान से लेकर, मानवीय कार्य, व्यवहार, व्यवस्था में भागीदारी, अखंड समझ सार्वभोम व्यवस्था, मानव परंपरा का स्वयं में सुनिश्चित हो जाने, को समाधान कहते हैं। एक और दृष्थ्रि से यह हमारे मूल प्रश्न – हम क्यों जीयें और हम कैसे जीयें के उत्तर हैं। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि यह सभी तथ्य, सार्वभोम अेर निरंतरता के अर्थ में है। सार्वभोम यहाँ, हर मानव/हर भूमि के रूप में और निरंतरता, काल की सीमा से मुक्त होने के अर्थ में है।

ज्ञानपूर्वक सुनिश्चित होने के साथि, हम अपने संकल्प को मानवीय आचरण पूर्वक, अपने जीने में प्रमाणित करते है। मानवीय आचारण में हम मूल्य और नैतिकता सहित, चरित्र पूर्वक जीतें हैं और यह हमारे समाधान का प्रमाण होता है। यह अन्य मानव के लिए अनुकरणीय होता है और यह उनकी जिज्ञासा निर्मित होने में अत्यंत सहायक होता है। मानवीयता पूर्ण आचरण हमारे व्यवहार, कार्य और व्यवस्था में भागीदारी का आधार है।

समाधान के साथ और मानवीय आचरण पूर्वक हम अपने जीने के बाकी तीनों स्तर पर समाधान को निरंतर प्रमाणित करने में तत्पर हो जाते हैं। इस प्रकार समाधान की स्थिति को प्राप्त होने के पश्चात, परिवार में समृद्धि, समाज में अभय और अस्तित्व में सह अस्तित्व को प्रमाणित करना हमारा लक्ष्य बना रहता है।

आईये एक बार पुनः ज्ञान और निश्चयन के बिंदुओं को समझते हैं। सर्वभोमिकता और निरंतरता के अर्थ में ज्ञान वस्तु को तीन बिंदु में समझते हैं :

जीवन ज्ञान : हम मानव, शरीर और जीवन का सह अस्तित्व है। इस तथ्य का साक्षात्कार होने से जीवन ज्ञान होना है।

अस्तित्व दर्शन ज्ञान : अस्तित्व में सह अस्तित्व, विकास क्रम, विकास, जागृति क्रम और जागृति नियम नित्य प्रभावी है। इस तथ्य का साक्षात्मकार को अस्तित्व दर्शन ज्ञान कहते हैं।

मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान : मूल्य, नीति और चरित्र पूर्वक जीना ही मानवीय आचरण पूर्वक जीना होता है और इस तथ्य का साक्षात्कार को मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान कहते हैं।

ज्ञान के आधार पर हमारे स्वयं में निश्चिय की वस्तु निम्नलिखित है :

मानवीय लक्ष्य का निश्चय : हर मानव का लक्ष्य, समाधान, समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व है। इस निश्चय को हम विवेक पूर्वक ही करते है और इसलिए हमें हम विवेक भी कहते हैं।

मानवीय लक्ष्य की पूर्ति की दिशा : मानवीय लक्ष्य के पूरा होने में समय, योजना, प्रणाली में निश्चितता होती है। इसको हम विज्ञान पूर्वक करते हैं इसलिए इसे विज्ञान भी कहते हैं।

मानवीय कार्य : मानव और तीनों अवसीाओं में पूरक संबंध, जो की अवर्तानशील उत्पादन, प्रकृति का संवर्धन, सुरक्षा और सदुपयोग से संभव है, इसका निश्चय करना।

मानवीय व्यवस्था में भागीदारी : मानवीय व्यवस्था के पांच आयाम जो की शिक्षा–संस्कार, स्वास्थ्य संयम, कार्य–उत्पादन, विनियम–कोष और न्याय–सुरक्षा के रूप में है, इसमें भागीदारी का निश्चय करना।

अखंड समाज : परिवार व्यवस्था से लेकर विश्व परिवार व्यवस्था तक मानव–मानव संबंध को

पहचानने, मूल्य और मूल्यांकन करने, उभय तृप्ति की उपलब्धि का निश्चय करना।

सार्वभोम व्यवस्था : परिवार व्यवस्था से विश्व परिवार व्यवस्था में ममंव मानव संबंध सहित, मानव–प्रकृति संबंध को पहचानना, मूल्य पूर्वक निर्वाह और मूल्यांकन करना, उभय सुख समृद्धि सहित, मानवीय व्यवस्था के पांचों आयाम में भागीदारी को निश्चित करना।

मानवीय परंपरा : मानव जाति में पीढ़ी दर पीढ़ी, अखंड समाज और सार्वभोम व्यवस्था की सूत्रता और निरंतरता को स्वयं के निश्चय करना।

समाधान और मानवीय आचरण पूर्वक हम अपने परिवार व्यवस्था में जिम्मेदारी के साथ, अपने दायित्व और कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुए, परिवार में समृद्धि को प्रमाणित करते हैं। समाधान, समृद्धि को प्रमाणित करते हुए हम अखंड समाज में भागीदारी करते हैं और अभय को प्रमाणित करते हैं। समाधान, समृद्धि और अभय पूर्वक हम क्रमशः सह अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। इस प्रकार मानव में समाधान ही परिवार में समृद्धि, समाज में अभय और अस्तित्व मं सह अस्तित्व का आधार बनता है। इस प्रकार समाधान ही मानव के सारे कर्म, क्रियाकलाप और कार्यक्रम का आधार हैं इसको हम 'समझ कर करने' का मार्गदर्शन भी कहते हैं।

अभ्यास व अध्ययन

1. हर बच्वें में जानना, मानना पहचानकर उसके साथ जीना (निर्वाह करना) इसे स्पष्ट कीजिए।
2. जानने और मानने की वस्तु क्या है?
3. समाधान किसे कहते है?
4. उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजन और पूरकता को स्पष्ट कीजिए।
5. कल्पनाशीलता का तृप्ति बिंदु क्या है?
6. कर्मस्वतंत्रता का तृप्ति बिंदु क्या है?
7. ज्ञान, विवेक और विज्ञान क्या है?

पाठ–2

समृद्धि

समाधान, समृद्धि अभय और सह–आस्तित्व सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक मानव लक्ष्य है। सार्वकालिक अर्थात आज जो मनुष्य का लक्ष्य है, आज से हज़ारो वर्ष पूर्व भी यही मानव लक्ष्य था, एवं लाखों वर्ष आगे भी यही मनुष्य का लक्ष्य रहना है। सार्वभौमिक का अर्थ है – पृथ्वी के सभी स्थान पर यही लक्ष्य रहता है। चाहे मानव ध्रुवों के पास, चाहे भूमध्य रेखा में, चाहे मरूभूमि में या किसी द्वीप में रहे – यह लक्ष्य हर समय बना रहता है। मनुष्य यदि अपने लक्ष्य से अनभिज्ञ हो तो कई कार्य एवं अनेक उपाय करते रहने पर भी तृप्त एवं सुखी नहीं होता।

समाधान इन सबमें प्रारंभिक लक्ष्य है। समाधान होने पर ही समृद्धि तथा समाधान एवं समृद्धि होने पर ही अभय होता है। समाधान, समृद्धि एवं अभय होने पर सह–अस्तित्व में अनुभव होता है।

व्यक्ति में समाधान परिवार में समाधान–समृद्धि, अखण्ड मानव समाज में अभय एवं धरती के चारों अवस्थाओं के साथ जीने पर सह–अस्तित्व प्रमाणित होता है।

अतः समृद्धि का अध्ययन परिवार व्यवस्था में ही संभव होता है एवं प्रमाण भी परिवार में ही होता है। समृद्धि की परिभाषा है – परिवार सहज आवश्यकता से अधिक उत्पादन।

परिभाषानुसार समृद्धि के लिए :

(1) परिवार सहज आवश्यकता की पहचान

(2) आवश्यकता को पूरा करने के लिए उत्पादन की पहचान।

(3) भौगोलिक स्थिति के अनुसार उत्पादन करने की विधि एवं नीति की पहचान।

(4) उत्पादित वस्तु का उपयोग

इस पूरी प्रक्रिया में प्रति दिन, प्रतिमास एवं प्रतिवर्ष आवश्यकता से अधिक उत्पादन प्रमाणित

होना ही समृद्धि है।

पूर्वोक्त 2 बिन्दुओं का अध्ययन हम पहले कर चुके हैं। तीसरा बिन्दु है – भौगोलिक स्थिति के अनुसार उत्पादन करने की विधि एवं नीति की पहचान। यहाँ उत्पादन करने की विधि का आशय है – उत्पादन करने का तरीका या तकनीक एवं नीति का तात्पर्य है – कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाए कि आवश्यकता पूरी हो सके एवं इस उत्पादन की निरन्तरता बनी रह सके।

इसे पर्यावरण संतुलन के साथ भी जोड़ सकते हैं।

उदाहरण के लिए समृद्धि के लिए हम कृषि उत्पादन को चुनते हैं। कृषि उत्पादों के लिए– छत्तीसगढ़ के भौगोलिक परिस्थिति में यह धान, आम, अमरूद को चुन सकते हैं। परन्तु हम पहाड़ों में होने वाले फल को नहीं चुन सकते जैसे सेव, बादाम आदि। इसी के साथ मिट्टी के प्रकार, शीतमान, उष्णमान एवं वर्षामान के अनुसार बीज बोने का समय, बोआई का समय निश्चित होता है। यह विभिन्न भौगोलिक परिस्थिति में उत्पादन की विधि का सामान्य परिचय है।

नीति : नीति में मुख्य बिन्दु है पर्यावरण सन्तुलन के साथ–साथ उस उत्पादन–कार्य की भी निरन्तरता रहें।

पर्यावरण सन्तुलन : का सीधा सम्बंध स्वास्थ्य से है। पर्यावरण असंतुलन मानव, पशु–पक्षी एवं वनस्पतियों में रोग का कारण होता है। हम सारा उत्पादन–कार्य मानव के स्वास्थ्य के लिए करते हैं, अतः पर्यावरण असंतुलन हमारी इस भावना के ही प्रतिकूल है।

उत्पादन–कार्य की निरन्तरता भी एक अनिवार्य भाग है क्योंकि किसी उत्पादन को नए भौगोलिक परिस्थिति में प्रथम बार आरंभ करने में काफी समय एवं श्रम लगता है। इस कार्य में कुशलता एवं निपुणता प्राप्त करने में भी काफी श्रम एवं समय लगता है। इसी के साथ इसके लिए कुछ यंत्र एवं उपरकणों का निर्माण करना पड़ता है। एक निश्चित स्थान पर इन्हें स्थापित करना पड़ता है। अतः एक बार उत्पादन प्रारंभ होने के बाद यह लगातार चलने पर श्रम एवं समय भी कम लगता हैं, उच्च गुणवत्ता की वस्तु प्राप्त होती है।

इसे ठीक से समझने के लिए हम दो उदाहरण लेगें।

जैसे – किसी स्थान विशेष पर घने वन हैं, अच्छी इमारती एवं जलाऊ लकड़ी है, अनेक

वनौषधि भी हैं। वैसे स्थान पर लकड़ी के उपकरण (फर्नीचर) बनाने का कार्य हो सकता है उत्पादन किया जा सकता है एवं वनौषधि से औषधि उत्पादन भी किया जा सकता है। इस प्रकार के कार्य प्रारंभ होने पर उस स्थान विशेष के वन में कमी आना प्रारंभ होगा। अब हमें योजना बनाकर यह निश्चिय करना है कि वन इसी प्रकार बने रहें। इसलिए हमे प्रति वर्ष वृक्षारोपण करना होगा। आज लगाए गए पौधे मे कई वृक्ष सौ वर्ष बाद इमारती लकड़ी के योग्य होते है जैसे साल सागौन। अतः हमें योजना 100 वर्ष से अधिक अवधि के लिए बनाना होता है। दूसरी बात है कितने पौधे लगाए जाए ? तो यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम कितने वृक्षों की लकड़ी का उपयोग कर रहे हैं। कितने वृक्ष काटे जा रहे हैं? उससे अधिक वृक्षारोपण की आवश्यकता है। इन वृक्षों के पौधे प्राप्त करने के लिए एक पौधशाला की भी आवश्यकता हैं जहाँ से हर वर्ष पौधे मिलते रहें। छोटे पौधे की सुरक्षा एवं सिंचाई भी एक आवश्यक बिन्दु है। इमारती लकड़ी की कुछ प्रजाति काफी धीरे बढ़ती है अतः उनके लिए कई वर्ष तक सुरक्षा व सिंचाई की आवश्यकता होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक कार्य की योजना बनाते ही, स्पष्ट होता है कि वह कई उत्पादन एवं सेवा–कार्य का समुच्चय है। इस विधि से उत्पादन की नीति निर्माण होने पर नैसर्गिक संतुलन बना रहता है फलतः वर्षा मान, शीत मान, ऋतुमान भी बने रहते हैं। यह उत्पादन पीढ़ी से पीढ़ी तक चलता रहता है। इसमें एक और महत्वपूर्ण बात है – लकड़ी के फर्नीचर (उपस्कर) एक बार बनने पर कई वर्षो तक उसी प्रकार रहते हैं। यह समय 50 वर्ष से अधिक हो सकता है। इसे देखा भी जाता है। अच्छी रख–रखाव होने पर यह 100 वर्ष से भी अधिक समय तक रह सकता है। वृक्षों की प्रजाति पर भी उपस्कारों की आयु निश्चित होती है। परिपक्व वृक्ष की लकड़ी अधिक आयु तक उपयोगी बनी रहती है। अतः यदि एक परिवार में आवश्यक सभी उपस्कर हो जाएँ तो 50 से 100 वर्ष तक नए उपस्कर की आवश्यकता प्रायः नहीं होती, सुधार के कुछ कार्य हो सकते हैं। इस प्रकार एक परिवार काष्ट कार्य करते हुए अनेक परिवार की आवश्यकता को पूरा कर सकता है और अनेक परिवार के लिए सहायक होता है।

दूसरा उदाहरण फर्शी पत्थर के सामान्य कार्य हैं। फर्शी पत्थर भूमि की सतह पर एवं कुछ नीचे तक पाये जाते हैं। इन्हें भूमि से निकालकर एक निश्चित आकार में काटा जाता है। ये आकार सामान्यतः चौकोर होते हैं। बाद में इन्हें घरो में ले जाया जाता है एवं फर्श के लिए उपयोग किया जाता है।

जब फर्शी पत्थर निकालना प्रारंभ करते हैं तो उपरी सतह के पत्थर पहले निकाले जाते हैं।

जब ऊपरी सतह के पत्थर निकल जाएँ तो और नीचे जाते हैं। इस प्रकार धीरे–धीरे गहराई बढ़ती जाती है एवं कुछ जाने के पश्चात पत्थर समाप्त हो जाते हैं। हमें कार्य बंद करना होता है। इस प्रकार के कार्य कुछ दिन में या कुछ वर्षों में बंद होते ही हैं। इन कार्यों की निरन्तरता नहीं है। अभ्यास के साथ लोग निपुणता एवं कुशलता प्राप्त करते हैं, वह अनुपयोगी हो जाती है। या तो उन्हें दूसरा कार्य प्रारंभ करना पड़ता है या अन्य स्थानों में जाना पड़ता है। अन्य स्थान में जाने पर भी कुछ समय में पुनः यही स्थिति बनती है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुॅचते हैं कि इस प्रकार का कार्य निरन्तर नहीं रहता है। यह मुख्य उत्पादन–कार्य नहीं है; सहायक कार्य के रूप में किया जाना ठीक है। भूमि की ऊपरी सतह से पत्थर हटाकर – भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए इसका प्रयोजन है। इन्हें मुख्य कार्य मानने पर किसी समय पूरा समूह बेरोज़गार होता है।

इसके साथ दूसरा महत्वपूर्ण बिन्दु प्राकृतिक (पर्यावरण) संतुलन है। पत्थर सूर्य की उष्मा से शीघ्र गर्म होते हैं एवं रात्रि में शीघ्र शीतल हो जाते हैं। धरती के नीचे छिपे पत्थर ऊपर आ जाने से वह स्थान दिन में अधिक गर्म एवं रात्रि में अधिक ठंडा होना स्वाभाविक है। यदि पत्थरों की मात्रा बहुत अधिक हो तो दिन बहुत गर्म एवं रात्रि बहुत ठंडी होती है। दिन एवं रात के तापमान में अन्तर बढ़ते ही फसल–उत्पादन में प्रभाव पड़ता है। कई प्रजाति के पौधे नष्ट हो सकते हैं।

पत्थर धरती के नीचे सतह पर हाने से पानी को ऊपर रोकने में मदद करते हैं। अतः धरती के नीचे पत्थर की पूरी परत निकलने से भूमिगत जल स्रोत प्रभावित होते हैं।

उत्पादित वस्तु का सदुपयोग : मानव समृद्धि में सदुपयोग एक महत्वपूर्ण भाग है। सदुपयोग न हो तो विपुल उत्पादन से भी समृद्धि सुनिश्चित नही हो पाती। सदुपयोग समाधान से ही संभव होता है। सदुपयोग को दो भागो में समझते हैं :

(1) व्यवस्था के अर्थ में उत्पादित वस्तु एवं तन का उपयोग।

व्यवस्था के अर्थ में उत्पादित वस्तु एवं तन का उपयोग – कोई वस्तु उत्पादन होने के उपरान्त उसका सदुपयोग अनिवार्य है अन्यथा उत्पादन अनुपयोगी होता है, उसमें लगा हुआ श्रम व्यर्थ होता है। उदाहरण के लिए हमारे पास मकान है, हमने उसमें 2 और कमरे बना लिए। अब ये कमरे उपयोग में नहीं आते हैं। उसके रख–रखाव व स्वच्छता पर भी श्रम लगता है। कुछ समय के पश्चात् वह कमरा नष्ट हो जाता है, उसे हटाने में भी श्रम लगता है।

दूसरा उदाहरण है – वाहन। वाहन का प्रयोजन दूर स्थान पर शीघ्रता से पहुँचने के अर्थ में है। परन्तु वाहन को हर समय, पास के स्थान में जाने के लिए प्रयोग करना, या प्रयोजन विहीन यात्राएँ करना भी दुरूपयोग की श्रेणी में है। कई बार इन्हें मनोरंजन के लिए किया जाता है। कई बार शरीर एवं भौतिक साधनों द्वारा जीवन की तृप्ति के प्रयास के लिए किया जाता है। पूर्व में इसे हम अच्छी तरह समझ चुके हैं कि जीवन की तृप्ति जीवन मूल्य, मानव मूल्य, स्थापित मूल्य एवं शिष्ट मूल्यों से ही होती है। भ्रमवश साधनों से सुखी होने के लिए अनेक वस्तुओं का संग्रह होता है, जो दुरूपयोग ही है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि समझदारी पूर्ण मानसिकता से ही वस्तु एवं तन का सदुपयोग होता है। यह व्यवस्था के अर्थ में होता है। ऐसी मानसिकता सम्पन्न कार्य–व्यवहार – सेवा में गण्य है। सेवा को हम दो भागो में देख सकते हैं –

(अ) उत्पादित वस्तुओं की रख–रखाव व सुरक्षा (मरम्मत) एवं

(ब) स्वास्थ्य की दृष्टि से, शरीर पर किया गया कार्य।

(अ)उत्पादित वस्तुओं की रख–रखाव व सुरक्षा : इसमें उत्पादन से प्राप्त वस्तुओं में उपयोगिता मूल्य की वृद्धि एवं कला मूल्य की वृद्धि भी होती है। एवं कई बार उपयोगिता मूल्य स्थिर रहते हुए उपयोगिता को बनाए रखा जाता है।

उदाहरण के लिए कृषि प्रक्रिया से प्राप्त चावल एवं अन्य सब्जियों को पकाना। इस प्रक्रिया में उपयोगिता व कला मूल्य की वृद्धि होती है। इसी प्रकार वस्त्र को शरीर के अनुकूल बना देने में भी उपयोगिता व कला मूल्य की वृद्धि होती है।

दूसरी विधि में भोजन के बर्तन को साफ रखना, कपड़े धोना, सुरक्षित रखना। मकान की सफाई, रंग द्वारा सुरक्षा। इसमें उपयोगिता मूल्य को लम्बे समय तक बनाए रखना उद्देश्य होता है।

(ब) स्वास्थ्य की दृष्टि में शरीर पर किया गया कार्य : इसमें अनेक प्रकार के कार्य हैं – जैसे शिशुओं के शरीर की सेवा, वृद्धों की सेवा, रोगियों की सेवा, रोग–उपचार का प्रयास।

इसी में सामान्य मनुष्य के लिए बाल काटना जैसे क्रिया कलाप भी शामिल हैं।

सेवा, मानव की समृद्धि में एक अनिवार्य भाग है। यह वस्तुओं को शरीर के उपयोग से जोड़ने की प्रक्रिया है। सेवा के बिना मानव समाज समृद्धि का अनुभव नहीं कर सकता।

निष्कर्ष :

(1) इस प्रकार यह समझ में आता है कि समृद्धि से पर्यावरण संतुलन प्रमाणित होता है एवं पर्यावरण संतुलित रहने पर समृद्धि को प्रमाणित किया जा सकता है।

(2) समृद्धि के लिए उत्पादन एवं सेवा अनिवार्य कार्यक्रम है।

(3) वस्तुओं के सदुपयोग से ही समृद्धि संभव है।

अभ्यास व अध्ययन

1. समृद्धि क्या है? उसके प्रमाणित होने के लिए क्या आवश्यक है?
2. पर्यावरण संतुलन क्यों जरूरी है?
3. उत्पादन करने की नीति कौन सी होना आवश्यक है?
4. वस्तु एवं तन का सदुपयोग कैसे होता है?
5. समृद्धि में सेवा का क्या महत्त्व है?

पाठ–3

अस्तित्व सहज व्यवस्था

अस्तित्व में दो वास्तविकताएँ हैं – एक रूपात्मक और एक अरूपात्मक वास्तविकता।

रूपात्मक वास्तविकता को इकाई कहते हैं – जैसे पानी, घर, टेबल, चादर, फोन पौधे, जानवर, मानव। इन सभी इकाईयों को हम उनके रूप के आधार पर पहचानते ही हैं। इकाईयों के इस समूह को प्रकृति भी कहते हैं। प्रकृति में इकाई की सम्पूर्ण पहचान उसके रूप के साथ–साथ गुण, स्वभाव और धर्म के आधार पर होती है। इस आधार पर प्रकृति को हम चार अलग अवस्थाओं के रूप में पहचानते हैं – पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था, जीव अवस्था और ज्ञान अवस्था।

अरूपात्मक वस्तु (वास्तविकता) को सत्ता कहते हैं। अरूपात्मक सत्ता ही सभी रूपात्मक इकाईयों का निवास–स्थल है। साथ ही, अरूपात्मक सत्ता, अस्तित्व की सबसे सूक्ष्म वस्तु है। दूसरे शब्दों में, सत्ता क्रियाशून्य और स्थितिपूर्ण है। इसी सूक्ष्मता–वश सत्ता में संपृक्त क्रियाशील और स्थितिशील इकाईयों की पहचान व समझ होना संभव है।

प्रत्येक इकाई का सत्ता में संपृक्त होने का तात्पर्य है कि इकाई सत्ता 'में' है। इकाई सत्ता से कभी अलग नहीं हो सकती क्योंकि वह सत्ता में भीगी, डूबी और घिरी है। अर्थात सत्ता और इकाई सह–अस्तित्व में है।

साथ ही, कोई भी इकाई सत्ता के बाहर नहीं है क्यों कि सत्ता व्यापक है। सत्ता हर स्थान पर है – उसका कोई छोर नहीं है। इसीलिए कोई भी इकाई अकेले नहीं है। सभी इकाईयाँ सत्ता में सह–अस्तित्वपूर्वक हैं। अतः इकाईयों का आपस में संबंध है।

सत्ता के होने से सह–अस्तित्व का होना निश्चित है और इकाईयों के सत्ता में संपृक्त होने से सह–असितत्व प्रमाण रूप में दिखता है। इकाईयों के बिना, सत्ता को पहचानना अथवा समझना संभव नहीं है। अतः साथ–साथ होना (अथवा सह–अस्तित्व) ही अस्तित्व में नियम है।

जैसे पानी और मछली साथ–साथ हैं; हवा, तारे, बादल, चिड़ियाँ साथ–साथ हैं; पहाड़, मिट्टी, घास, झरने साथ–साथ हैं; मानव परिवार रूप में साथ–साथ रहते हैं; मानव शेष प्रकृति के साथ जीते हैं आदि। ध्यान देने पर, हमारे आस–पास और हमारे जीने में सह–अस्तित्व का प्रमाण या उसकी स्वीकृति या उसकी अपेक्षा होना ही दिखता है।

विस्तार रूप से देखने पर, समुद्र का पानी एक क्रियाशील वस्तु है जिसमें ऑक्सीजन घुलता है और मछली इस पानी से अपने श्वसन–प्रश्वन के लिए ऑकसीजन प्राप्त करती है। आकाश में हवा भी क्रियाशील है। जैसे अगरबत्ती जलाने से उसका धुआँ, हवा के कणों के कारण, पूरे कमरे में फैल जाता है। इसी तरह मानव भी क्रियाशील है। इसीलिए वह प्रकृति का आहार, आवास, अलंकार के रूप में उपयोग कर पाता है। अर्थात सभी इकाईयां क्रियाशील हैं। यह क्रियाशीलता ही एक इकाई का दूसरी इकाई के साथ संबंध का प्रमाण है। इकाईयों के क्रियाशील होने से उनके आपस में संबंध का निर्वाह होता है। यथा इकाई समग्र व्यवस्था में भागीदार होती है।

इकाईयों के ऊर्जित होने से ही उनमें क्रिया संभव है। इकाई ऊर्जित है – तभी वह अपने में व्यवस्थित है। जैसे यह पन्ना, पन्ना के रूप में बना हुआ है। पहाड़, पहाड़ के रूप में बना हुआ है, नदी, नदी के रूप में बनी हुई है। अर्थात इकाइयों में ऊर्जा व क्रिया होने से वे व्यवस्था में हैं और अपने से बड़ी व्यवस्था में भागीदार हैं। यह अस्तित्व सहज व्यवस्था है।

इस ऊर्जा का स्रोत क्या है? इकाइयों में ऊर्जा का स्रोत इकाईयों से अधिक सूक्ष्म वस्तु (वास्तविकता) ही हो सकती है। अर्थात व्यापक सत्ता ही ऊर्जा है। व्यापक सत्ता में इकाईयों के संपृक्त होने से इकाईयों में ऊर्जा होना स्वाभाविक है। इकाईयों के निरंतर क्रियाशील होने से यह समझ में आता है कि सत्ता साम्य ऊर्जा है। अर्थात यह ऊर्जा कभी घटती–बढ़ती नहीं है, कभी समाप्त नहीं होती – साम्य ऊर्जा निरंतर वैसे कि वैसे ही बनी रहती है। अतः साम्य ऊर्जा को निरपेक्ष ऊर्जा भी कहते हैं।

निरपेक्ष ऊर्जा में संपृक्त इकाईयों में सापेक्ष ऊर्जा होती है। अर्थात सत्ता की सापेक्षता में ही इकाईयों में ऊर्जा संभव है। गतिक ऊर्जा, ताप, ध्वनि, विद्युत – इस सापेक्ष ऊर्जा का ही प्रकाशन है। सापेक्ष ऊर्जा में परिवर्तन होता है परंतु निरपेक्ष ऊर्जा हमेशा बनी रहती है। अतः इकाईयों में ऊर्जामयता व क्रियाशीलता की पहचान से सत्ता ही निरपेक्ष ऊर्जा है; यह समझ में आता है।

उपरोक्त अनुसार, इकाईयों के निरंतर ऊर्जित व क्रियाशील होने से इकाईयाँ स्वयं में व्यवस्थित है और समग्र व्यवस्था में भागीदार हैं। परमाणु, व्यवस्था की सबसे छोटी व मूल इकाई है। अस्तित्व में व्यवस्था के नियम को समझने क लिए परमाणु की व्यवस्था को समझना अनिवार्य है। आइये परमाणु की व्यवस्था पर विस्तार से चर्चा करें –

अस्तित्व में 3 प्रकार की क्रियाएँ दिखती हैं – भौतिक, भौतिक–रासायनिक और जीवन क्रियाएँ। यह तीनों क्रियाएँ परमाणु में होती हैं क्यों कि परमाणु ही अस्तित्व में मूल क्रिया (अथवा इकाई) है। गठनशील परमाणु में भौतिक और भौतिक रासायनिक क्रियाएं होती हैं। जैसे पानी का भाप बननना एक भौतिक क्रिया है और हाइड्रोजन और ऑक्सीजन मिलकर पानी बनना एक भौतिक–रासायनिक क्रिया है। पहली क्रिया में पानी का आचरण बना रहता है और दूसरी में हाइड्रोन व ऑक्सीजन का आचरण रासायनिक क्रिया के पश्चात परिवर्तित होता है। अपितु, गठनपूर्ण परमाण अथवा जीवन में जीवन क्रियाएँ होती हैं जैसे विचार करना, इच्छा करना।

विचार व इच्छा करना, सुखी होना – ये सभी क्रियाएँ मानव में होती हैं। चाहे ग्रीष्म ऋतु हो या शीत ऋतु, मानव में विचार करने और इच्छा करने की क्षमता बनी रहती है। चाहे मानव सुविधा संपन्न हो या सुविधा विहीन हो – दोनों ही कभी सुख–कभी दुखी दिखते हैं। अर्थात ये क्रियाएँ मानव में निरंतर बनी रहती हैं और इनमें भौतिक–रासायनिक क्रियाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। साथ ही, हम यह भी देखते हैं कि मानव एक ही क्षण में सैंकड़ों विचार करता है। विचार करते समय कई निर्णय भी लेता रहता है। अर्थात जीवन क्रिया की गति भौतिक–रासायनिक क्रियाओं की गति से कई अधिक है।

जीवन क्रिया को इकाई रूप में गठनपूर्ण परमाणु के रूप में पहचानते हैं। गठनपूर्ण परमाणु में सोचना, विचारना, इच्छा करना, चयन करना निरंतर बना रहता है अर्थात वह अक्षय बल और शक्ति संपन्न है। साथ ही, गठनपूर्ण परमाणु किसी गठनशील (जड़) या गठनपूर्ण (चैतन्य) परमाणु के साथ जुड़ता नहीं है। दूसरे शब्दों में, गठनपूर्ण परमाणु अणु–बंधन से मुक्त है और इसी लिए इसे भारहीन भी कहते हैं।

प्रत्येक गठनपूर्ण परमाणु में अंशों की संख्या निश्चित और समान है। गठनपूर्ण परमाणु की अपेक्षा में गठनशील परमाणु में दो प्रकार के परमाणु दिखते हैं – अजीर्ण और भूखे परमाणु। अजीर्ण परमाणु में परमाणु–अंश अधिक संख्या में होते हैं और भूखे परमाणु में परमाणु–अंश कम

संख्या में होते हैं। यही अस्तित्व सहज व्यवस्था है।

साथ ही, गठनशील परमाणु में मात्रात्मक और गुणात्मक परिवर्तन होता है। जैसे ऑक्सीजन के परमाणु का दूसरे ऑक्सीजन के परमाणु से मिलने पर ऑक्सीजन का अणु बनता है। ऑक्सीजन के परमाणु से ऑक्सीजन का अणु बनने में मात्रात्मक परिवर्तन होता है। साथ ही, ऑक्सीजन का हाइड्रोजन के साथ मिलने से मात्रात्मक और गुणात्मक परिवर्तन, दोनों होता है। ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के परमाणु में मात्रात्मक बदलाव होता है और पानी बनता है। साथ ही, इस भौतिक–रासायनिक क्रिया से ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के आचरण में गुणात्मक परिवर्तन होता है। अर्थात पानी का आचरण ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के आचरण से भिन्न होता है। जैसे ऑक्सीजन में जलाने वाला गुण होता है और हाइड्रोजन में जलने वाला गुण होता है परंतु इनके मिलने से पानी बनता है जिसका एक गुण आग बुझाने वाला होता है।

अपितु, गठनपूर्ण परमाणु अथवा जीवन में केवल गुणात्मक परिवर्तन होता है। गठन के पूर्ण होने के कारण जीवन में कोई मात्रात्मक परिवर्तन नहीं होता। साथ ही, जीवन जीव या मानव–शरीर के सह–अस्तित्व में व्यक्त होता है। मानव–शरीर में जीवन में पूर्ण गुणात्मक परिवर्तन की संभावना होती है। मानव के जीवन में दो ही स्थितियां होती हैं – समझदार होना या नासमझ होना। समझदार होने को विकसित या मानव चेतना कहते हैं और नासमझ होने को अविकसित या जीव चेतना कहते हैं। नासमझ से समझदार होना ही जीवन में गुणात्मक परिवर्तन है। यह अस्तित्व सहज है।

गठनशील परमाणु के मध्य में अंश होते हैं। इन अंशों को मध्यांश कहते हैं। मध्यांश के सभी ओर परिवेशीय–अंश अपने गतिपथ में घूमते हैं। मध्य में अंश घूर्णन गति में होते हैं और परिवेशीय–अंश में घुर्णन और वर्तुलात्मक गति में होते हें। यह गठनशील परमाणु की व्यवस्था है। यह व्यवस्था अस्तित्व सहज है।

गठनशील परमाणु का अन्य गठनशील परमाणुओं के साथ मिलने से अणु बनता है। इन अणु, अणु रचनाओं, पिंड, प्राण–कोशिकाओं के रूप में गठनशील परमाणु अपने से बड़ी व्यवस्था में भागीदार होते हैं। जैसे प्राण–कोशिकाएं (गठनशील परमाणु का समूह) मानव–शरीर को बनाए रखने में भागीदार होत हैं।

परमाणु के परिवेशीय–अंश की मध्यांश से एक निश्चित दूरी बनी रहती है। परिवेशीय अंश वर्तुलात्मक गति में होते हुए भी न मध्यांश से और न ही आपस में टकराते हैं बल्कि अपने गति–पथ में बने रहते हैं। मध्यांश में 'मध्यस्थ क्रिया' के होने से यह निश्चित दूरी बनी रहती है। मध्यस्थ क्रिया ही परमाणु में व्यवस्था का आधार है।

प्रत्येक गठनशील परमाणु के मध्यांश में मध्यस्थ क्रिया का होना अस्तित्व सहज है। मध्यस्थ क्रिया मध्यस्थ बल और मध्यस्थ शक्ति के रूप में व्यक्त है और इस बल और शक्ति के तहत ही परमाणु स्वयं एक व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है। परमाणु का अपने में बने रहना ही स्वयं में व्यवस्था का प्रमाण है और दूसरे परमाणुओं से मिलकर अणु/अणु रचना/पिंड/प्राणकोशा के रूप में दूसरी इकाईयों के लिए पूरक होना उसका समग्र व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण है। जैसे ऑक्सीजन परमाणु में परमाणु–अंश की संख्या निशचित है और परमाणु–अंश की आपस में दूरी भी निश्चित है। यह स्थान और समय अनुसार बदलता नहीं है। अर्थात ऑक्सीजन, परमाणु के रूप में व्यवस्था में है। साथ ही, ऑक्सीजन–अणु के रूप में मानव के शरीर की व्यवस्था के लिए पोषक है – अर्थात ऑक्सीजन–अणु अपने से बड़ी व्यवस्था में भी भागीदार है।

गठनशील परमाणु की तरह गठनपूर्ण परमाणु के मध्य में भी मध्यस्थ क्रिया होती है। यद्यपि गठनपूर्ण परमाणु के मध्य में एक ही अंश होता है। गठनशील परमाणु की तरह गठनपूर्ण परमाणु के मध्यांश के सभी ओर भी परिवेशीय–अंश अपने गति–पथ में घूमते हैं। मध्यांश के घूर्णन और परिवेशीय–अंश के घूर्णन और वर्तुलात्मक गति के योगफल में परमाणु में कम्पन्नात्मक गति होती है। गठनपूर्ण परमाणु में वर्तुल और धूर्णन गति की तुलना में कम्पन्नात्मक गति अधिक होती है। यह गठनपूर्ण परमाणु की व्यवस्था है। यह व्यवस्था अस्तित्व सहज है।

गठनपूर्ण परमाणु के मध्यांश में मध्यस्थ क्रिया प्रभाव और दबाव व आकर्षण और विकर्षण से मुक्त होती है। मध्यस्थ क्रिया के होने से मानव अन्य मानव और शेष प्रकृति के साथ अच्छी निश्चित दूरी तय कर पाता है। परंतु बिना समझ के यह मध्यस्थ क्रिया मानव में सुशुप्त है। समझने पर ही यह क्रिया विकसित होती है। इसीलिए मानव के लिए समझना अपनी तृप्ति के लिए एक आवश्यकता है।

समझने की क्रिया केवल मानव में होती है। समझने वाला, करने वाला और फल भोगने वाला मानव ही है। अर्थात मानव ही सह–अस्तित्व का दृष्टा है। मानव समझदार अथवा ज्ञान संपन्न होने

पेर ही सह–अस्तित्व का दृष्टा हो पाता है। अतः मानव में ही ज्ञान संपन्न होने की संभावना है। मानव सत्ता में भीगा, डूबा, घिरा है और इसी कारणवश उसमें वास्तविकता को समझने की क्षमता है। अर्थात सत्ता ही ज्ञान है और मानव को सत्ता ज्ञान के रूप में उपलब्ध है। ज्ञान को अनुभव करने वाला व समझने वाला मानव ही है।

सत्ता (ज्ञान) में अनुभूति ही मानव में जागृति की स्थिति है। जागृत मानव स्वयं में व्यवस्थित होता है और अन्य मानव के साथ न्यापूर्ण व्यवहार करता है, प्रकृति के साथ धर्म सहित भागीदार होता है और सत्य सहित सभी आयामों में सह–अस्तित्वपूर्वक जीता है। यह व्यवस्था जीवन में मध्यस्थ क्रिया के सक्रय होने का प्रमाण है। अजागृत मानव अव्यवस्था या द्वंद्व में जीता है। यही मध्यस्थ क्रिया का जागृति व पूर्व सुशुप्त होने का संकेत है। परंतु अजागृत मानव में भी समझने की इच्छा, समझने की संभावना, सुखपूर्वक जीने की चाहना बनी रहती है। यह अस्तित्व सहज है। इस अस्तित्व सहज व्यवस्था के कारण ही मानव जागृति क्रम में है। वास्तविकता को समझने की वरीयता होने पर, वास्तविकता की ओर ध्यान देने पर मानव समझता ही है। समझदार होना भी अस्तित्व सहज व्यवस्था है।

समझदार मानव मध्यस्थ बल और शक्ति के साथ आसक्ति (अधिमूल्यन) मुक्त स्थिति में जीता है। अर्थात मानव ना अधिमूल्यन और ना ही विरक्ति की स्थिति में जीता है। वह मानव का व्यवस्था के अर्थ में प्रयोजन समझकर उसके साथ संबंध पूर्वक जीता है। साथ ही, भौतिक वस्तुओं का प्रयोजन समझकर उनका उपयोग–सदुपयोग करता है। जीवन में यह जागृति की स्थिति है जो जागृत होने पर ही मानव प्रमाणित कर पाता है।

गठनपूर्ण परमाणु अथवा जीवन जागृति में है – यह समझदार मानव स्व–नियंत्रित होने पर ही सिद्ध करता है। समझदारी की स्थिति में मानव बाहरी दबाव व प्रभाव से मुक्त रहता है और ज्ञानपूर्वक संचालित होता है। जागृत मानव में यह स्थिरता व निश्चित आचरण ही व्यवस्था का द्योतक है। यह व्यवस्था अस्तित्व सहज है। यह व्यवस्था सर्व मानव की कामना है। इसलिए सर्व मानव का व्यवस्था में होना, व्यवस्थापूर्वक जीना संभव, समीचीन और सहज है।

अस्तित्व सहज व्यवस्था

प्रकृति

(सत्ता में डूबा, घिरा, भीगा, होने से प्रत्येक परमाणु में श्रम, गति परिणाम)

जड़ प्रकृति (गठनशील परमाणु)
(विकास क्रम)

अणु

अणु रचना (पदार्थ पिंड)
(ताप, दाब, जल)

प्राण कोशा

पेड–पौधे
पशु पक्षी शरीर

मानव शरीर

पदार्थ अवस्था
(पहचानना, निर्वाह)

प्राण अवस्था
सह अस्तित्व
जीव अवस्था
(मानना, पहचानना, निर्वाह)

सह अस्तित्व
ज्ञान अवस्था
(जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह)

चैतन्य प्रकृति (गठनपूर्ण परमाणु)
(विकास)

गठन पूर्ण परमाणु
– चैतन्य परमाणु
– परिणाम का अमरत्व
– अक्षय बल संपन्न
– जीवन

(पहचानना, निर्वाह)

ज्ञान अवस्था में समझदारी
– क्रिया पूर्णता
– श्रम का विश्राम
– मानवीयता पूर्ण आचरण
– देव मानव

मानवीय आचरण
– आचरण पूर्णता
– गति का गंतव्य
– दिव्य मानव

पाठ – 4

हमारी धरती एक व्यवस्था

हमारी पृथ्वी एक ग्रह है जो सौर मण्डल का एक भाग है।

सौर मण्डल के केन्द्र में सूर्य है और पृथ्वी समेत 8 और ग्रह सूर्य की परिक्रमा कर रहें है। इस सौर मंडल में सम्पूर्ण ऊष्मा का स्रोत सूर्य है। यह सौर मंडल एक व्यवस्था है। इस बात से स्पष्ट होता है कि सारे ग्रह घूर्णन गति कर रहें है और अपने एक निश्चित गति पथ में वर्तुलात्मक गति कर रहे हैं। यह निश्चितता व सौर मंडल का सदैव ऐसा ही बने रहना एक व्यवस्था का प्रमाण है। ये सारे ग्रह मात्र क्रियाहीन पिंड के समान दिखते हैं, परन्तु इन ग्रहों का बने रहना, एक निश्चित आचरण होना और निश्चित गति पथ में निश्चित गति करते रहने से स्पष्ट होता है कि ये ग्रह क्रियाशील हैं। अस्तित्व में हर इकाई क्रियाशील है और अपने को बनाये रहती है और बड़ी व्यवस्था में भागीदार रहती है। छोटे से छोटे कण इन ग्रहों पर क्रियाशील हैं और अनंत कण, ठोस व विरल पदार्थ जिनकी अपनी स्थिति, निश्चितता व गति है, मिलकर एक ग्रह हैं। इन इकाईयों का एक आचरण है, अपने को बनाये रखना है और सौर मंडल को बनाये रखने में भागीदार होना है।

पृथ्वी ही सौर मंडल का वह ग्रह है जिस पर पदार्थ अवस्था से अधिक अवस्थाएँ पाई जाती हैं। पृथ्वी अपने धुरी पर एक ओर झुकी है। धुरी पर घूर्णन गति से पृथ्वी पर दिन और रात होती है और एक घूर्णन के समय को हम एक दिवस कहते हैं। दिन–रात्रि को हमने 24 भागों में तोड़ा है और हर भाग को हम एक घण्टा कहते हैं। सूर्य की परिक्रमा करने से ऋतुएँ होती हैं। सूर्य की परिक्रमा करते समय सूर्य की किरणें पृथ्वी के एक गोलार्ध पर अधिक पड़ती हैं। सूर्य की एक पूरी परिक्रमा को मानव ने 365 दिन–रात अथवा बारह माँस में होते हुए देखा। इस कारण हम यह देखते है कि वर्ष के 6 मास दक्षिणी गोलार्ध पर सूर्य की किरणें अधिक तीव्रता से पड़ती हैं और उत्तरी गोलार्ध पर तिरछि पड़ती हैं जिससे वहाँ का तापमान कम रहता है। इस परिक्रमा के गति पथ और पृथ्वी के गति के निश्चितता को हम समय अनुसार हर वर्ष, हर बार ऋतुओं के नाम से

पहचानते हैं। तापमान के कम ज्यादा होने से पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था, जीव अवस्था व ज्ञान अवस्था प्रभावित होती हैं। इस दौरान निश्चित परिवर्तन हर अवस्थाओं में देखते हैं।

सौर मंडल और पृथ्वी में गति की निश्चितता व पृथ्वी पर हो रही अनेक क्रियाओं के अवधि को पहचानकर, हमने समय अथवा काल की धारणा बनाई है इसी को हमने सुविधा के लिए दिवस, माँस व वर्ष नाम दिया। पृथ्वी पर एक सूर्य परिक्रमा के पश्चात सारी ऋतु घटनाएँ दुबारा घटती हैं।

दिशा को पहचानने के लिए भी मानव ने चन्द्रमा, सूर्य, तारे एवं अन्य ग्रहों का उपयोग किया, पृथ्वी के एक गोलार्ध के ध्रुव को उत्तर दिशा और निचली गोलार्ध के ध्रुव को दक्षिण दिशा का नाम दिया। धरती के घूर्णन के कारण पूरे पृथ्वी में एक दिशा से सूर्य उगता हुआ दिखाई पड़ता है, इसको पूर्व दिशा कहते हैं। जिस ओर सूर्य ढलता है अर्थात डूबता दिखता है उसे पश्चिम दिशा कहते हैं। दिशा की पहचान मानव के लिए अपने स्थान और उसके अनुसार अन्य स्थानों की पहचान के लिए उपयोगी है।

धरती (अथवा पृथ्वी) पर हर इकाई एक दूसरे से सम्पर्क में हैं। हर इकाई का प्रभाव दूसरे इकाई पर है। छोटी से छोटी इकाई अपने में व्यवस्था होते हुए एक बड़ी व्यवस्थित इकाई में भागीदार होती है। जैसे छोटे–छोटे कण से मिट्टी की एक परत बनती हैं। इस परत पर अलग अनुपात व मात्रा में जंगल, रेगिस्तान, पहाड़, मैदान आदि हैं। यह सब मिलकर एक महाद्वीप हैं। महाद्वीप और सागर मिलकर धरती की सतह कहलाते हैं। सतह पर पदार्थ अवस्था से प्राण अवस्था बनती है। तथा इस रचना क्रम में जीव अवस्था और ज्ञान अवस्था बनती है। विभिन्न प्रजाति के इकाई होते हुए भी धरती की सभी इकाईयाँ अपनी भागीदारी अनुसार एक बड़ी व्यवस्था के रूप में हैं। यह व्यवस्था इसलिए कहलाती हैं क्योंकि यह प्राण अवस्था, जीव अवस्था व ज्ञान अवस्थाओं के बने रहने के लिए अनुकूल हैं।

इसी प्रकार वायुमंडल में अनंत छोटे–छोटे विभिन्न प्रजाति के विरल पदार्थ हैं जिनके मिलने से वायुमंडल की अलग परतें बनती हैं। अर्थात् ये धरती की व्यवस्था में भागीदार हैं। एक परत सतह पर हैं जिसमें हम सांस लेते हैं। वायुमंडल की ऊपरी परतें धरती की व्यवस्था बनाये रखने में भगीदार हैं। जैसे सूर्य की कुछ किरणें, जो सतह पर अवस्थाओं के लिए अनुकूल नहीं हैं। वे वायुमंडल की ऊपरी परत में पच जाती हैं। धरती पर जो सूर्य की किरणें आती हैं वे धरती पर

ऊष्मा का स्रोत हैं। ये किरणें जब धरती की सतह पर पड़ती हैं, तो कुछ ऊष्मा थल और जल पचा लेते हैं, बाकि किरणें परावर्तित हो जाती हैं। इन प्रतिबिंबित किरणों में से कुछ किरणें वायुमंडल की एक परत में अवशोषित होती हैं ताकि धरती पर एक अनुकूल तापमान बना रहे और बाकि ऊष्मा वायुमंडल के बाहर सौर मंडल में वापिस चली जाती है। वायुमंडल धरती/पृथ्वी को चारों ओर कवच की तरह घेरे है। धरती कि संरचना की एक भाग धरती की सतह है, दूसरा भाग वायुमंडल है और तीसरा धरती का भूगर्भ है।

धरती के भूगर्भ में व्यवस्था हैं और फलतः सतह पर भी व्यवस्था हैं। भूगर्भ में अनेक भौतिक व रासायनिक क्रियाएँ होती रहती हैं जिससे सतह पर आवश्यकता अनुसार अनेक धातु, अन्य वस्तुएँ ऊपर आ जाते हैं जिसका एक उदाहरण ज्वालामुखी है। सतह पर जो वस्तुएं उपलब्ध हैं वह धरती की आवर्तनशील व्यवस्था को बनाये रखते हैं और इन्हीं से सभी अवस्थाओं की सारी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। सतह के नीचे भूगर्भ से किसी वस्तु को लेना धरती की आवर्तनशीलता को बिगाड़ सकता है। इसके साथ, वह वस्तु जिस व्यवस्था का भाग भूगर्भ में था, उस व्यवस्था के बिगड़ने की संभावना बढ़ जाती है।

धरती पर ऊष्मा का वितरण जल धाराएँ व पवन चक्र से होता है। पृथ्वी के गोलाकार के कारण सूर्य की किरणें ध्रुवों पर तिरछी पड़ती है। जिससे वहाँ ठंडी अधिक होती है और पूरे वर्ष हिम जमा रहता है। भूमध्य रेखा पर सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं। जिसके कारण भूमध्य रेखा के स्थानों पर सबसे अधिक गर्मी पड़ती है। धरती की सतह का 2/3 भाग जल है जो सागर और महासागर के रूप में है। थल और जल का अनुपात, थल में पहाड़, जंगल, मैदान, रेगिस्तान का अनुपात व स्थान सतह पर अनुकूल व्यवस्था बनाने के लिए है। महासागर और महाद्वीप का स्थान और जहाँ द्वीप जुड़े हैं या सागर जुड़े हैं, यह भी सतह पर अलग अनुकूल स्थितियाँ बनती हैं। जंगलों के अनुपात से प्राणवायु अथवा आक्सीजन का वातावरण में अनुपात बना रहता है और जंगल वर्षा का भी कारण है। थल और जल के अनुपात से नमी की उपयुक्त मात्रा सतह पर उपलब्ध है। धरती के घूर्णन का प्रभाव जल और वायु पर होता है। इस प्रभाव को हम भंवर के रूप में पहचानते है।

सार रूप में, धरती की सतह और वायुमंडल अपने में एक व्यवस्था है और एक दूसरे के साथ भी व्यवस्था में हैं। इसी प्रकार धरती का भूगर्भ और धरती की सतह अपने में व्यवस्था है और एक

दूसरे के साथ भी व्यवस्था में हैं। धरती की संरचना के यह तीनों भाग मिलकर धरती की सम्पूर्ण व्यवस्था को बनाते हैं और बने रखते हैं। सौर मंडल में सारे ग्रह पृथ्वी समेत एक निश्चित आचरण व्यक्त करते हैं। पृथ्वी पर भी व्यवस्था है। हर छोटी से छोटी इकाई अपने में एक व्यवस्था है और उससे बड़े व्यवस्था में भागीदार हैं। इस प्रकार हम यह देख पाते हैं कि सम्पूर्ण धरती भी एक व्यवस्था हैं जिसमें पदार्थ अवस्था प्राण अवस्था, जीव अवस्था की इकाईयों के भी निश्चित आचरण हैं और निश्चित भागीदारी है। मानव जो ज्ञान अवस्था की इकाई हैं, जागृत होने पर व्यवस्था को समझते हैं और इसमें समझपूर्वक निश्चित भागीदारी कर धरती की व्यवस्था को और समृद्ध बनाते हैं। अपितु, अजागृत मानव के अनिश्चित आचरण के कारण, नासमझी में वे धरती में अव्यवस्था पैदा करते हैं।

अभ्यास व अध्ययन

1. "हमारा सौरमंडल व्यवस्था का प्रमाण है" – इसे स्पष्ट कीजिए।
2. पृथ्वी पर दिन–रात एवं ऋतुएँ क्यों होती हैं?
3. धरती का वायुमंडल धरती की व्यवस्था में किस तरह से भागीदारी कर रहा है?
4. धरती के गर्भ में स्थित वस्तुओं के कारण धरती की व्यवस्था किस तरह से बनी रहती है?
5. धरती पर ऊष्मा का वितरण किस तरह होता है?
6. मानव, धरती की व्यवस्था को किस तरह से बनाए रखने में भागीदारी कर सकता है?

पाठ–5

पदार्थ अवस्था

प्रकृति चार अवस्था का संयुक्त स्वरूप है। इन चारों अवस्थाओं को पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था, जीव अवस्था और ज्ञान अवस्था के रूप में समझते हैं।

मानव के रूप में हम इस व्यवस्था को समझ सकते हैं और इन चारों अवस्थाओं को रूप, गुण, स्वभाव और धर्म के भेद से समझ सकते है। जैसे पदार्थ अवस्था का धर्म है – अस्तित्व यानि बने रहना। हर पदार्थ किसी न किसी रूप में हमेशा बना रहता है। पदार्थ अवस्था का स्वभाव संगठन और विघटन है अर्थात एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के साथ संगठित होकर बड़ा पदार्थ बनता है। इसी कारण हम बड़े–बड़े पहाड़, नदियाँ, वायुमंडल आदि के रूप में पदार्थ अवस्था की रचनाओं को पहचान सकते हैं। पदार्थ अवस्था की विभिन्न इकाईयाँ हमें तीन रूप में स्पष्ट होती हैं – ठोस, तरल और विरल। पत्थर ठोस है, जल तरल है, और वायु विरल है और हम पृथ्वी पर इन तीनों रूप में कई पदार्थ को पहचान सकते हैं।

पदार्थ अवस्था में रचनाओं की प्रकिया को देखें तो हमें भौतिक और रायायनिक क्रिया समझ में आती है। भौतिक और रासायनिक प्रक्रिया से पदार्थ हमें तीन भेद से समझ में आते हैं। यह भेद हैं – तात्विक, रासायनिक और मिश्रित। जैसे आसमान में बादल एक भौतिक क्रिया के फलस्वरूप रचना है। चूना, पृथ्वी पर एक रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप रचना है। हर रासायनिक प्रक्रिया में पदार्थ के मूल में तात्विक पदार्थ होते हैं जिनके योग से रासायनिक पदार्थ की रचना होती है। यह हम अपने वातावरण में सहज पहचान सकते हैं जैसे पानी में काई लग जाती है, लोहे में नमी के वातावरण में जंग लग जाता है, खाने की वस्तु सड़ने लगती है इत्यादि। रासायनिक पदार्थ को पुनः अपने स्वरूप में लाना सहज नहीं होता है जैसे सड़े हुए खाने को बापस खाने में, जंग को वापस लोहे में बदलना असहज है। जल भी एक रसायन है जो हमारी पृथ्वी के वातावरण में अन्य रासायनिक क्रियाओं को गति देता है। कई रचनाऐं जैसे मिट्टी की सतह, वायुमंडल, समुद्र आदि – कई पदार्थ के मिश्रण हैं और इस रूप में स्वभाविक रूप से पृथ्वी पर हम इन्हें पहचानते हैं।

इनका आपस में मात्रा अनुपात, पृथ्वी पर इनके होने का स्थान, इनकी आपस में निरंतर होती हुई क्रिया–प्रक्रिया आदि; यह सभी पृथ्वी की व्यवस्था के रूप में हमें दिखते हैं।

पदार्थ अवस्था में हम मिट्टी, पत्थर, मणि और धातु को आसानी से पहचान सकते हैं। पृथ्वी की सतह पर मिट्टी कई तात्विक और रासायनिक पदार्थ का मिश्रण है। मिट्टी, वनस्पति के लिये आवश्यक है। कई प्रकार की मिट्टी में वनस्पति आसानी से नहीं हो पाती है और कई प्रकार की मिट्टी में बहुतायत मात्रा में होती है। इस प्रकार हम मिट्टी को उर्वरकता के भेद से जाँच सकते हैं, पहचान सकते हैं। उर्वरक मिट्टी से भिन्न पत्थर भी अनंत संख्या में हमें पृथ्वी की सतह पर स्पष्ट रूप से पहचान में आते हैं। कुछ पत्थर बहुत नर्म होते हैं और बहुत आसानी से चूर हो जाते हैं। कई प्रकार के पत्थर कठोर होते हैं। इस प्रकार पत्थर को हम कठोरता के भेद से समझ सकते हैं। कई पदार्थ चमकीले होते है और प्रकाश में बहुत चमकते है और उसके विपरीत कई पदार्थ में कोई चमक नहीं होती है। चमक भेद से हम पदार्थ को किरणग्राही और किरणश्रावी के रूप में समझते हैं और पहचानते हैं। इन्हें मणी कहा जाता है। पदार्थ की गणना में हम विद्युत का भी इस्तेमाल करते हैं। कई पदार्थ अपने स्वभाविक स्थिति में विद्युत प्रवाह को गतिपूर्वक बनाये रखने में सक्षम होते है और कुछ पदार्थ कम सक्षम होते है। गतिपूर्वक विद्युत प्रवाह बनाये रखने वाले पदार्थ को हम धातु कहते हैं। इस प्रकार क्रमशः पदार्थ–अवस्था की इकाईयों में उर्वरकता, कठोरता, प्रकाशश्राविकता और विद्युत प्रवाह के रूप में मिट्टी, पत्थर, मणि और धातु को हम सभी पहचान सकते हैं।

पदार्थ अवस्था की व्यवस्था में भागीदारी को समझना और स्वीकारना हम सभी के लिये आवश्यक है। पदार्थ अवस्था का उपयोग हम सभी के जीवन में बहुतायत में है। जैसे हम खेती करते हैं; उद्योग स्थापित करते हैं; अपने शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये भोजन, वस्त्र, घर, वाहन आदि का उपयोग करते हैं। अर्थात् हम कई परिस्थितियों में पदार्थ अवस्था पर निर्भर हैं।

अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हम ईंधन का भी प्रयोग करते हैं। ईंधन का उपयोग हम कार्य ऊर्जा के रूप में करते हैं। जैसे आज की परिस्थित में कोयला, तेल का ईंधन के रूप में सर्वाधिक उपयोग किया जाता है।

पदार्थ–अवस्था की इकाईयों को संपूर्णता में (रूप, गुण, स्वभाव व धर्म सहित) समझने से ही मानव उनका उपयोग–सदुपयोग कर सकता है। अर्थात् जागृत मानव आवर्तनशील विधि से उनका उपयोग करता है। इस विधि से अन्य पदार्थों की मात्रा व अनुपात प्रकृति में व्यवस्थित बने रहती है। अन्यथा, समझ के अभाव में मानव पदार्थ अवस्था की इकाईयों का दुरुपयोग कर उनकी व्यवस्था को बिगाड़ता है। जैसे कोयला के अत्यधिक उपयोग से उसकी मात्रा धरती पर बहुत कम हो रही है। इसकी (धरती के भूगर्भ में) मात्रा कम होने से धरती का ताप बड़ रहा है। साथ ही, कोयला के अत्यधिक उपयोग से धरती प्रदूषित हो रही है। अतः समझदार मानव आवर्तनशील विधि ा से, प्राकृतिक संतुलन को बनाए हुए पदार्थ अवस्था का उपयोग करता है।

अभ्यास व अध्ययन

1. मिट्टी, पत्थर, मणि, धातु इन सभी को हम किन भेदों से समझ सकते है?
2. मानव पदार्थ अवस्था का किस तरह से उपयोग करता है?
3. आवर्तनशील ईंधन का उपयोग करना हमारे लिए क्यों आवश्यक है?

पाठ–6

प्राण अवस्था

प्राणावस्था, धरती में पाई जाने वाली 4 अवस्था में से एक अवस्था है। प्राणावस्था नियम एवं नियंत्रण पूर्वक व्यवस्था है। इसे ही बीजानुषंगी व्यवस्था कहते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था का आधार प्राणकोशिका है। प्राण कोशिका का सप्राणित रहना प्राण अवस्था की पहचान है। सप्राण कोशिका का निष्प्राण होना पुनः पदार्थावस्था में बदलना कहलाता है। इसे ही मृत्यु या विरचना कहते हैं।

प्रत्येक इकाई में रूप, गुण, स्वभाव एवं धर्म अविभाज्य होता है। प्राणावस्था की प्रत्येक इकाई में भी रूप, गुण, स्वभाव एवं धर्म होता है। प्राणावस्था की प्रत्येक इकाई का धर्म एवं स्वभाव एक ही होता है। रूप एवं गुण प्रजातियों में एक होता है। उदाहरण के लिए आम, नीम, इमली, ये तीनों प्राणावस्था की इकाई हैं। इन तीनों का स्वभाव एवं धर्म एक जैसा होता है। परन्तु गुण एवं रूप अलग–अलग होते हैं। इसी आधार पर (रूप, गुण) इन्हें पहचाना जाता है। एक जाति में रूप, गुण स्वभाव, धर्म एक समान होता है। सम्पूर्ण प्राणावस्था की अन्य इकाई के लिए पोषक होना सारक है एवं मारक का अर्थ है प्राणावस्था की अन्य इकाई के लिए शोषक होना। कोई भी वनस्पति सारक–मारक का संयुक्त स्वभाव सहित होती है। किसी प्रकार की वनस्पति के साथ एक प्रजाति का सारक प्रभाव होता है, जबकि किसी अन्य प्रजातियों के साथ मारक प्रभाव होता है।

सम्पूर्ण प्राणावस्था का धर्म पुष्टि है। जब तक कोई इकाई प्राणावस्था के रूप में है, तब तक वह पुष्टि के लिए कार्यरत रहती है। पुष्टि का अर्थ है आवश्यक रसायनों का एकत्रण एवं अपने अनुकूल बनाने की क्रिया। यह क्रिया अनवरत चलते रहती है। यही पुष्टि का तात्पर्य है।

प्राणावस्था में नियंत्रण एक प्रमुख भाग है। यही प्राणावस्था के व्यवस्था होने को स्पष्ट करता है। नियंत्रण को मुख्यतः 2 प्रकार से पहचान सकते हैं। प्रथम–स्वयं में नियंत्रण एवं द्वितीय – समग्र प्राणावस्था के साथ नियंत्रण। उद्भव, विभव एवं प्रलय का संयुक्त क्रिया कलाप ही नियंत्रण है।

स्वयं में नियंत्रण को मुख्यतः निम्न सात बिन्दुओं में पहचाना जा सकता है :

1. पत्ते, फूल, फल, बीज का रंग एवं आकार निश्चित होना
2. पत्ते फूल, फल, बीज, जड़ का गंध एवं स्वाद निश्चित होना
3. पूरे वृक्ष या पौधे की आयु निश्चित होना
4. वृक्ष या पौधे की वृद्धि, वृद्धि की दर निश्चित होना
5. पत्ती निकलने, फूलने, फलने, बीज बनने एवं अंकुरण का समय निश्चित होना–ऋतु अनुसार
6. फूलने, फलने की आयु निश्चित होना, प्रतिवर्ष फूलने–फलने की मात्रा निश्चित होना
7. किस प्रकार की जलवायु अर्थात तापमान, शीतमान, ऋतुमान, वर्षामान, नमी में पौधे का बने रहना एवं इसकी निश्चितता।

हम अच्छी तरह समझते हैं कि रंग, गंध एवं स्वाद विभिन्न रसायनों की उपस्थिति एवं उनके अनुपात के आधार पर ही होता है। प्रत्येक पौधे में एक निश्चित प्रकार का गंध, स्वाद होना, एक निश्चित प्रकार के रसायन या कई रसायनों के सम्मिलित रसायनों पर ही निर्भर रहता है। ये रसायन वनस्पति द्वारा ही एकत्रित किए जाते हैं। मुख्यतः जड़ ही इस प्रकार के रसायनों को एकत्रित करता है। अलग–अलग पौधे में भिन्न रसायनों की उपस्थिति, जड़ द्वारा ही भिन्न–भिन्न रसायनों के चयन का ही परिणाम है। इस प्रकार नियंत्रण जड. से ही दिखता है। यह भिन्नता बीज में पाई जाती है। यही बीजाषंगी व्यवस्था है। इसके मूल में प्राणावस्था की मूल इकाई प्राणकोशिका ही है।

समग्र प्राणावस्था के साथ नियंत्रण में दो बिन्दु प्रधान हैं :

1. लम्बी आयु के वृक्षों में बीज के अंकुरण एवं बड़े होने की परिस्थिति के आधार पर नियंत्रण
2. सारक–मारक स्वभाव के आधार पर 'वनस्पति समूह' का प्रकटन एवं नियंत्रण

वन में विभिन्न प्रजाति की वनस्पतियाँ होती हैं। इनमें एक अनुपात भी दिखता है। समय–समय

पर यह अनुपात भी बदल सकता है। साथ ही, सभी प्रजाति बने रहें, ऐसा स्वयं स्फूर्त नियंत्रण दिखता है। किसी भी एक प्रजाति का आधिपत्य हो जाए, अन्य लुप्त हो जाए, ऐसा नहीं होता। लम्बी आयु के वृक्ष के बीज अंकुरण एवं पौधे की वृद्धि में नियंत्रण के आधार पर यह बना रहता है। इसी क्रम में भिन्न–भिन्न आयु के वृक्षों के समूह की रचना होना, ये समूह एक व्यवस्था होना, एवं यह व्यवस्था वातावरण के नियंत्रण मे प्रभावी होना स्पष्ट होता है।

बीज में एक विशेष प्रकार का नियंत्रण होता है – वह है स्तूषी के अंकुरण योग्य परिस्थिति एवं वातावरण में अंकुरण क्रिया का प्रारंभ होना। अन्य वातावरण में उसकी सुरक्षा होना। उदाहरण के लिए धान के खेतों में बरसात में 2–3 माह पानी भरा रहता है। उसमें अधिकांश प्राणावस्था की इकाई सड़ जाती है। इसके बाबजूद हम देखते हैं कि धान काटने के बाद, खेत सूखने के बाद शीत ऋतु के प्रारंभ में कई प्रकार की वनस्पतियाँ उगती हैं। ये सभी ग्रीष्म के प्रारंभ में सूख जाते हैं। इनके बीज ग्रीष्म की धूप, इसके बाद की उमस एवं पानी में लम्बे समय तक डूबे रहने पर सड़ते नहीं हैं। समय आने पर पुनः अंकुरित होते हैं। यह बीज की सुरक्षा, वातावरण से अप्रभावित रहना एवं अनुकूल समय में अंकुरित होना, वनस्पतियों में नियंत्रण का ही परिचय है।

नियंत्रण का मूल रूप प्राण कोशिका ही है। प्राण कोशिका में प्राण सूत्र एवं रचना सूत्र होते हैं। ये अविभाज्य होते हैं। प्राण सूत्र का अर्थ है श्वसन क्रिया की प्रवृत्ति एवं रचना सूत्र का अर्थ है रचना के समस्त आयामों का सूत्र। रचना सूत्र में पौधे का आकार; पत्तियों का आकार, रंग; उसमें शामिल सभी रसायन; आयु इन सभी का सूत्र रहता है। रचना सूत्र ही वनस्पति के नियंत्रण का कारण है। रचना सूत्र में विविधता ही विभिन्न प्रजाति के रचना का कारण है। प्राणावस्था स्वयं व्यवस्था होना एवं समग्र व्यवस्था में भागीदार होना, प्राण कोशिका की व्यवस्था के आधार पर ही स्पष्ट है।

अभ्यास व अध्ययन

1. प्राणावस्था का स्वभाव एवं धर्म क्या है?
2. प्राणावस्था की इकाई में स्वयं में नियंत्रण किन बातों से समझा जाता है?
3. समग्र प्राणावस्था के साथ नियंत्रण कैसे समझ करते है?
4. प्राणसूत्र और रचनासूत्र को स्पष्ट कीजिए।

पाठ–7

जीव अवस्था

जीवावस्था का प्राणावस्था से उदात्तीकरण हुआ और प्राणावस्था का पदार्थावस्था से उदात्तीकरण हुआ। इसलिए हम जीवास्था अर्थात् पशु–पक्षी में प्राणावस्था और पदार्थावस्था दोनों के गुण पाते हैं। जीवावस्था में जीव–शरीर को देखें तो हम उसे जड़ इकाई के रूप में पहचानते हैं और जीवन को चैतन्य इकाई के रूप में पहचानते हैं। जड़ इकाई होने से जीव–शरीर को हम अपनी आँखों से देख पाते हैं। जीव–शरीर करोड़ों प्राणकोशिकाओं के समूह से रचित है जिसमें निरंतर श्वसन–प्रश्वसन क्रिया होती है। इन कोशिकाएओं में श्वसन क्रिया से पोषक तत्व अवशोषित होते हैं और अनावश्यक तत्व बाहर निकलते हैं। इस भौतिक–रसायनिक प्रक्रिया से प्राणकोशिकाऐं सप्राणित रहती हैं। कुछ समय बाद उसकी श्वसन–प्रश्वसन की क्षमता कम होती है और वे निष्प्राणित होती हैं; यानि प्राणावस्था से पदार्थावस्था में परिवर्तित होती हैं।

जीवावस्था के चैतन्य पक्ष (जीवन) को हम इन्द्रियों से पहचान नहीं पाते हैं। जीवन एक गठनपूर्ण परमाणु है जिसमें कोई भौतिक–रसायनिक क्रियाकलाप संभव नहीं है। इसलिए जीवावस्था में जीवन को हम उसमें मानने की प्रवृत्ति से पहचानते हैं। जीवावस्था की इकाई में जीवन और शरीर साथ–साथ हैं। पशु–पक्षी का जीवन शरीर के संकेत जैसे भूख, निद्रा आदि को पहचानता है और उसे प्राथमिकता देता है। साथ ही, पशु–पक्षी का जीवन हमारे (मानव के) जीवन के संकेत स्वीकारता है और उसके अनुसार कार्य करता है।

जैसे शेर को भूख लगती है तो उसकी प्रथमिकता शिकार करना है शिकार के पश्चात विश्राम करना अनिवार्य है। विश्राम के दौरान दूसरे जानवरों से कोई खतरा होने पर ही शेर वहाँ से हटता है। भूख और भय को पहचानने वाली इकाई जीवन है। भूख और भय को पहचानने के आधा पर पर जीवन शरीर के द्वारा भूख को मिटाने के लिए शिकार करता है और भय से मुक्त होने के लिए भागता है। इस तरह जानवर खाने,पीने, सोने से संचालित है। वे अपने शरीर को स्वस्थ बनाए रखने के लिए सभी क्रियाकलाप करते हैं। साथ ही, गाय, बैल, बकरी, घोड़ा जैसे पालतू

जानवर मनुष्य को मालिक अथवा अपना संरक्षक मानते हैं। संरक्षक के हाव–भाव पहचानते हैं और उनके संकेत अनुसार कार्य करते हैं। गाय अपने संरक्षक का स्पर्श, आवाज़, गंध, रूप पहचानती है। उसे अपना दूध निकालने देती है। किसी नए व्यक्ति के आने से गाय विचलित होती है और अपना दूध उसे निकालने नहीं देती है। उस व्यक्ति के साथ कुछ समय बिताने पर वह उसको स्वीकारती है और अपना दूधा निकालने देती है। इसलिए जानवर मानव को मालिक या सरंक्षक के रूप में स्वीकार कर अपना शरीर उनके संकेतों अनुसार चलाता है। स्वीकारना जीवन में मानने की क्रिया को ही कहते हैं।

जीवावस्था की इकाई अपने शरीर को स्वस्थ बनाए रखने के साथ–साथ अपने शरीर की परंपरा को बनाए रखने के लिए प्रजनन क्रिया करती है। गाय बछड़े को जन्म देती है और अपने वंश की परंपरा बनाए रखती है। गाय का बछड़ा स्वतः गाय की तरह खाता–पीता, चलता–फिरता, सोता है। शेर का बच्चा जन्म से ही शेर–जैसे माँसाहारी होता है, शेर–जैसे दौड़ता है इत्यादि। गाय का बछड़ा या शेर का बच्चा अपने वंश के आधार पर क्रिया करता है। वह सोच–विचार कर चलने, घास खाने या शिकार करने का निर्णय नहीं लेता है। यह जीवावस्था में वंशानुषंगीयता की व्यवस्था है।

जीवावस्था में क्रूर और अक्रूर स्वभाव के पशु–पक्षी हैं। क्रूर–प्रधान पशु–पक्षी के नाखून और दंत लम्बे होते हैं ताकि वे दूसरे जानवर का शिकार करके उसे खा सकें। अक्रूर–प्रधान पशु–पक्षी के नाखून और दंत चपटे होते हैं ताकि वह अन्य वनस्पतियों का भोजन कर सकें। अर्थात् क्रूर पशु–पक्षी माँसाहारी होते हैं और अक्रूर पशु–पक्षी शाकाहारी होते हैं। उनकी शरीर की रचना उनके स्वभाव के आधार पर ही होती है, यह जीवावस्था में एक व्यवस्था है।

दोनों, क्रूर और अक्रूर जानवर, अपने वंशानुषंगी प्रवृत्ति के आधार पर अपने शरीर की परंपरा बनाए रखते हैं। इस वंशानुषगीयता के आधार पर जीवावस्था स्वयं में संतुलित है अथवा व्यवस्था में है। जैसे धरती पर शाकाहार और माँसाहार एक निश्चित अनुपात में पाऐ जाते हैं। यह संतुलन शाकाहार के अनेक प्रजातियाँ, अधिक मात्रा और लम्बी आयु के होने से संभव है। माँसाहारी का कम मात्रा में पाए जाने से इन दोनों के बीच एक संतुलित अनुपात भी बना रहते है और माँसाहारी के लिए हमेशा पर्याप्त भोजन उपलब्ध रहता है। इसी प्रकार जीवावस्था के शाकाहारी पशु–पक्षियों के लिए प्राणावस्था से पर्याप्त भोजन निरंतर उपलब्ध रहता है क्योंकि धरती पर प्राणावस्था,

जीवावस्था की तुलना में, अधिक मात्रा में है। जीवावस्था का प्राणावस्था से प्रगटन होने से यह स्पष्ट होता है कि प्राणावस्था, जीवावस्था से, अधिक मात्रा में है। यह भी जीवावस्था का स्वयं में संतुलित होने का प्रमाण है।

इसलिए मानव जीवावस्था को समझते है तो उसमें संतुलन को पहचानते हैं। जीवावस्था को पहचानने जाते हैं तो उन्हें उनके स्वभाव से मुख्यतः पहचानते हैं। जैसे गाय को उसकी अक्रूरता से पहचानते हैं। जीवावस्था की इकाईयाँ आपस में भी एक दूसरे का स्वभाव पहचानती हैं। स्वभाव पहचानने में रूप और गुण पहचानना समाया है। उदाहरण के लिए हिरण बाघ के रूप (जैसे आकार) और गुण (जैसे आयु) को पहचानते हुए उसकी क्रूरता पहचानती है और इसी लिए उसे अपनी ओर आते हुए देख भागती है। पशु–पक्षी को उनके स्वभाव के आधार पर पहचानना, जीवावस्था में एक व्यवस्था है।

जीवावस्था के स्वभाव से पशु–पक्षियों का आहार स्पष्ट होता है। उपरोक्तानुसार क्रूर जानवर कमज़ोर पशु का माँस खाते हैं और अक्रूर जानवर पत्तियाँ, घास और अन्य वनस्पतियों को खाते हैं। अर्थात् इनका आहार निश्चित है और यह निश्चितता ही व्यवस्था है। इसी तरह इनका आवास भी निश्चित है जैसे मछली पानी में मिलती है, गाय मैदान में मिलती है, कबूतर आकाश में मिलता है, ध्रुवीय भालू बर्फ में मिलता है और ऊँट रेगिस्तान में मिलता है। इस आवास के आधार पर पशु–पक्षियों की शरीर रचना भी निश्चित है। जैसे ऊँट के शरीर में अतिरिक्त पानी रखने की व्यवस्था होने से वह रेगिस्तान की गर्मी में लम्बे समय तक रहता है। इससे जीवावस्था का स्वयं में व्यवस्था होना सिद्ध होता है।

जीवावस्था स्वयं में व्यवस्थित है और इसलिए दूसरी अवस्थाओं के साथ पूरकता में जीती है। जैसे गाय के गोबर से मिट्टी संवर्धित होती है और इस मिट्टी से पेड़–पौधे पुष्ट होते हैं। साथ ही, जानवरों के मल–मूत्र से जंगल में वनस्पतियाँ कीड़ों से संरक्षित रहती है। इसी तरह पशु–पक्षी मानव के लिए भी पूरक होते हैं। उनसे दूध, ऊन, गोबर इत्यादि प्राप्त होता है। इनके सदुपयोग से खेती अच्छी होती है और पर्याप्त आहार उपलब्ध होता है। इस तरह जीवावस्था समग्र व्यवस्था में पूरकता–विधि से भागीदार होती है।

मानव जीवावस्था को संपूर्णता में समझते हैं और अतः इसका उपयोग–सदुपयोग करते हैं।

मानव–ज्ञानावस्था की इकाई हैं और मानव का सोच–विचार, कार्य, व्यवहार – सब ज्ञान से नियंत्रित है। इसलिए मानव सबसे विकसित अवस्था है और सबके साथ व्यवस्थापूर्वक जी सकते हैं। अपनी समझ पूर्ण (संस्कार) होने पर परिवार में संबंधों में जीते हैं, समाज में अखण्डता में जीते हैं और प्रकृति के साथ सह–अस्तित्वपूर्वक जीते हैं। इसलिए मानव संस्कारानुषंगी है – सब जाँचकर, जानकर (समझकर) जीते हैं। यह हमारे और जीवावस्था में मुख्य अन्तर है। जीवावस्था की इकाई वंशानुषंगी है और अपने वंश के जैसे उठती, बैठती, खाती, पीती है। वह दूसरे वंशों से अलग रहती है – जैसे बंदर अपने ही वंश के साथ रहते हैं और एक निश्चित स्थान पर रहते हैं। जीवावस्था शरीर के अनुसार यह सब क्रियाकलाप करती है। जागृत मानव अपने आपको जीवन रूप में जानते हैं और इसलिए सुखपूर्वक जीने के लिए अपने शरीर को एक साधन के रूप में उपयोग करते हैं। यह जागृति का प्रमाण है और जागृत जीवन को मानव चेतना भी कहते हैं।

अभ्यास व अध्ययन

1. जीवावस्था में मानने की क्रिया किस तरह होती है?
2. जीवावस्था में स्वभाव किस तरह दिखाई देता है?
3. जीवावस्था में वंशानु ांगियता को कैसे देख पाते है?
4. जीवावस्था में संतुलन को स्पष्ट कीजिए।
5. जीवावस्था स्वयं में व्यवस्था है – इसे स्पष्ट कीजिए।
6. जीवावस्था और ज्ञानावस्था में भेद स्पष्ट कीजिए।

पाठ–8

ज्ञान अवस्था

मानव, प्रकृति और अस्तित्व का दृष्टा है और यह मानव को प्रकृति की किसी भी इकाई से भिन्न और श्रेष्ठ बनाती है। मानव, प्रकृति में हर इकाई का रूप, गुण, स्वभाव और धर्म के आधार पर पहचान सकने की क्षमता रखता है। एवं जागृति उपरांत इसी आधार पर समग्र इकाइयों को पहचान कर, संबंध का निर्वाह करता है। इसलिए जागृत मानव को दृष्टा, ज्ञान की उपाधि से भी संबोधित किया जाता है। जागृति हम सभी मानव की क्षमता सीमा में है और ज्ञान, विवेक और विज्ञान पूर्वक हम जागृति को प्राप्त करते हैं।

ज्ञानावस्था की इकाई के रूप में जागृत मानव के लक्ष्य को हम इन चार बिन्दुओं में समझ सकते हैं–

– हर मानव में समाधान की स्थिति हो

– हर परिवार में समृद्धि हो

– समाज में अभय हो

– प्रकृति में सह अस्तित्व हो

यह चार लक्ष्य हर मानव के लिए सहज हैं और इनको समझ कर, स्वीकार कर, हम इन चारों लक्ष्य को निष्ठा पूर्वक, सिद्ध करने के लिए कार्यरत होते है। अगर हम स्वयं के क्रिया कलाप, योजनाओं और कार्यक्रम को ध्यान से देखे तो यह पाएंगे कि यह चारों लक्ष्य हमारी दिशा का निर्धारण करते हैं। इन लक्ष्यों को स्पष्टता से पहचानना हम सभी मानव की आवश्यकता है। एक जागृत मानव इन लक्ष्यों को पहचानकर, स्वयं में निश्चित कर, इनके प्रति सतर्क और सजग होकर अपने क्रियाकलाप करता है। भ्रम और अजगृति की स्थिति में हम प्रचलन और अज्ञानता वश हम अपने लक्ष्य को समाधान से अन्यथा मान लेते हैं और उन्हें सिद्ध करने में तत्पर रहते हैं। इन प्रचलित लक्ष्य को पूरा करके भी हम सुखी नहीं हो पातें है और अपने लिए नए लक्ष्य की खोज

में लग जाते हैं। समाधान के लक्ष्य को, स्वयं के लिए और हर मानव के लक्ष्य के रूप में समझना, हमें जागृति की ओर गति देता है।

हर व्यक्ति में समाधान हो यानी समझ की पूर्णता हो। हर व्यक्ति स्वयं को समझना चाहता हैं, शरीर के साथ अपनी व्यवस्था को समझना चाहता है, मानव–मानव संबंध को समझना चाहता है, परिवार में अपनी जिम्मेदारी, भागीदारी को समझना चाहता है, प्रकृति की सुरक्षा और उसे समृद्ध बनाना चाहता है और ऐसा जीना चाहता है। ऐसा करने से वह स्वयं में विश्राम का अनुभव करता है और दूसरों की तृप्ति में सहायक हो पाता है। यह स्वयं के लिए हमारा लक्ष्य है। आज हम स्वयं के लिए पढ़ने–लिखने का या ज्ञानी/विज्ञानी बनने का अपूर्ण लक्ष्य को मान लेते हैं और उसको पूरा करने में अपनी शक्ति को, अपने जीवन को लगा देते हैं। यह प्रचलित लक्ष्य हमारे सहज दिशा को इंगित कर पाने में अधूरा है, अपूर्ण है और इस वजह से इससे पूरा करने के बाद भी हम स्वयं की उपलब्धि को आंकलित नहीं कर पातें है। हम स्वयं में अतृप्त रहते है और समाधान पूर्वक जीना हमारे लिए सहज नहीं हो पाता है।

हर परिवार में समृद्धि हमारा लक्ष्य है। इसका अर्थ है कि हम अपने परिवार में संबंध पूर्वक जीते हुए, अपने परिवार की आवश्यकता को ठीक–ठीक पहचान पाएँ और उससे अधिक श्रम के साथ, अवार्तानशील विधि के साथ उत्पादन करें, और समृद्धि के भाव का अनुभव कर पायें और हर परिवार के इस लक्ष्य में सहयोग कर सके।

– परिवार की आवश्यक सुविधा की ठीक पहचान

– श्रम पूर्वक प्रकृति के साथ कार्य

– आवर्तनशील विधि से उतपादन

समृद्धि का भाव और उसकी निरंतरता हमारी आवश्यकता है, और इसके लिए इन तीनों बिंदुओं पर ध्यान देना अनिवार्य है, अन्यथा हम समृद्ध महसूस नहीं कर पातें और इस आपूर्ति के अभाव में इन तीनों मुद्दों पर ज्यादती या गलती करने लगते हैं। आज प्रचलन में यह स्पष्ट दीखता है कि अधिक लोग, अधिक से अधिक सुविधा जोड़ने में प्रयासरत है और समृद्धि के भाव के अनुभव का कोई प्रमाण नहीं है। इसका मल कारण, परिवार की साधन की आवश्यकता को सही–सही

पहचानने में असमर्थता है। परिवार में समृद्धि का अनुभव, समाधान को सुनिश्चित करने से ही संभव है।

समाज में अभय का लक्ष्य, सबके साथ विश्वास पूर्वक जीने में और मानवीय आचारण के साथ प्रस्तुत होने से है। समाज की यह स्थिति हम सभी को सहज स्वीकार होती है। व्यक्ति में समाधान और परिवार में समृद्धि के साथ, समाज में अभय सहज ही होता है। प्रचलन में आज हम यह मान लेते है कि मानव में अमानवीयता तो है ही, परिवार में दरिद्रता तो है ही और फल परिणामें समाज में असुरक्षा तो है ही, इसलिए अमानवीयता से असुरक्षा के उपकरण प्रधान है और इससे सिद्ध करने के लिए हम अपनी शक्ति और साधन नियोजित करते हैं, जबकि ऐसा लक्ष्य अधूरा है, अपूर्ण है और इस दिशा में क्रियाकलाप करने से आज हमने कई प्रकार के खतरनाक विस्फोटक, अणु/परमाणु विस्फोटक, हिंसात्मक दृष्टि अपना ली है, जिससे समाज में असुरक्षा और बढ़ गई है। समाज में भागीदारी का लक्ष्य – समाज में अभय है और इस लक्ष्य/दिशा से प्रेरित होकर हमारे क्रिया कलाप, निरंतर एक बेहतर स्थिति की ओर हमें अग्रसर करते हैं। हमारा एक दूसरे पर विश्वास बढ़ता है, हम हर मानव में समाधान को घटित कराने के लए कार्यरत होते है और हर परिवार में समृद्धि को। यह समाज में अभय को सुनिश्चित कराने का कार्यक्रम है।

प्रकृति के साथ सह अस्तित्व के लक्ष्य को हम प्रकृति की व्यवस्था को समझकर और उस व्यवस्था के अंतर्गत जीकर पूरा करते हैं। प्रकृति में परस्पर पूरकता, प्रकृति की व्यवस्था में एक मूल सिद्धांत है और इस पूरकता को चारों अवस्थाओं के साथ समझकर (पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था, जीव अवस्था और ज्ञान अवस्था) और इन चारों अवस्था के साथ पूरक होकर जीने से हम सह अस्तित्व के लक्ष्य को सिद्ध करते हैं। प्रचलन में हम प्रकृति को एक भयानक और अनिश्चित शक्ति के रूप में मान लेते हैं और इस पर विजय पाने को अपना उद्देश्य। इस प्रकार से हम कई प्रकार के नासमझ कार्यक्रम बनाते हैं, जिससे पूरकता में विघ्न होता है और धरती में कई प्रकार के असंतुलन की स्थिति हो गई है। ऋतुमान, शीतमन, वर्षामान आदि में अस्थिरता इस असंतुलन के प्रधान लक्षण है। ज्ञानावस्था में हम मानव की यह आवश्यकता है कि हम प्रकृति की व्यवस्था के नियम को समझकर अपना क्रियाकलाप को दिशा दें और प्रकृति के साथ पूरक होकर जीयें।

इस प्रकार हम सभी मनुष्य का लक्ष्य निश्चित है, इन्हें समझा जा सकता है और इनकी पूर्ति के

लिए कार्यक्रम बनाया जा सकता है। इन लक्ष्य की स्वीकृति और इनके प्रति निष्ठान्वित होकर क्रियाकलाप करना ही हमारा विकास है। विकास चैतन्य इकाई का होता है, जड़ इकाई में रचना–विरचना ही संभव है। रचना–विरचना की इस प्रक्रिया का उपयोग करते हुए हम आवश्यकता को पहचानते हुए, सुविधा का उत्पादन करते हैं, जो हमारे विकास में सहायक मात्र है।

ज्ञानावस्था, प्रकृति में व्यवस्था है और इस व्यवस्था का आधार, हम सभी मानव में इन चारों लक्ष्यों की स्वीकृति और इनके प्रति निष्ठा है। हम सभी मानव इन लक्ष्यों के प्रति जागृत हो सकते हैं और इन्हें अपने में निश्चित कर सकते हैं। यह ज्ञानावस्था की हर इकाई, अर्थात हर मानव, की क्षमता सीमा में है। इन चारों लक्ष्यों की स्वीकृति और इनके प्रति निष्ठाा को सर्व मानव में घटित कराने के लए शिक्षा–संस्कार की महत्त्वपूर्ण भागीदारी है। शिक्षा–संस्कार को भली–भाँति ग्रहण करने के लिए हम सभी मानव अध्ययन करते हैं।

इन चारों लक्ष्य को स्वयं में निश्चित करने के लिए हमें सह अस्तित्व रूपी व्यवस्था का अध्ययन करना आवश्यक है। यह हम स्वयं के अध्ययन से शुरू करते हैं और इस आधार पर हम प्रकृति में भी सह–अस्तित्व के नियम का भी अध्ययन कर पाते हैं। स्वयं में और प्रकृति में सह–अस्तित्व नियम का आधार अस्तित्व में सह–अस्तित्व का नियम है, ऐसा साक्षात्कार होता है। इस बिंदु या निष्कर्ष पर पहुँच कर हम यह समझ पाते हैं कि मानव के रूप में हमारा, अस्तित्व में हर इकाई जैसे पदार्थावस्था, प्राण अवस्था, जीव अवस्था और ज्ञान अवस्था की इकाई के साथ क्या संबंध है और इसमें क्या अपेक्षाएँ है और हमें मानवीय आचरण के बारे में स्पष्टता आती है। इस प्रकार हम समाधान की स्थिति को पातें है अर्थात हमारा पहला लक्ष्य पूरा होता है और यह बाकी तीन लक्ष्य को पूरा करने का आधार बन जाता है।

अपने इन चारों लक्ष्य के प्रति जागृति और निष्ठा ही हमारा ज्ञानावस्था में होने का प्रमाण है।

अभ्यास व अध्ययन

पाठ–9

मानव संचेतना

मानव मानवीयता पूर्ण कार्य और वयवहार करते हुए, अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था में फैलाव तक भागीदारी करते हैं। इस प्रकार, मानव सहज क्रिया कलाप की अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में ही पूरी व्याख्या है, इससे कम में नहीं। इस फैलाव अर्थात सम्पूर्णता में जीता हुआ मानव – मूल्य, चरित्र और नैतिकता के साथ है और इस क्षमता वश मानव संपूर्णता में भागीदारी करने में सफल है।

मानव, शरीर और जीवन का सह–अस्तित्व है। मानव की मानवीय कार्य–व्यवहार के मूल्य में जीवन सहज आचरण है। जीवन सहज आचरण एक व्यवस्था है और इसे मानवत्व की संज्ञा भी देते हैं, क्योंकि एक जागृत मानव के रूप में 'होना' है।

जीवन 5 अक्षय बल–शक्ति रुपी अविभाजीय इकाई है और जीवन सहज आचारण को इस स्वरुप में हम अध्ययन कर सकते हैं। पिछले भागों में हमने इन पांच अक्षय बल–शक्ति का अध्ययन किया है। यह 5 बल–शक्ति निम्नलिखित है और जीवन सहज 122 आचरण इन पांच बल–शक्ति की क्रियाओं और क्रिया के लक्ष्य के सम्मिलित स्वरूप में अध्ययनगम्य है।

– आत्मा और प्रमाण में 2 आचरण क्रिया

– बुद्धि और ऋतंभरा में 4 आचरण क्रिया

– चित्त और इच्छा में 16 आचरण क्रिया

– वृति और विचार में 36 आचरण क्रिया

– मन और आशा में 64 आचरण क्रिया

मन की आचरण क्रियाएं (64)

1. भक्ति और तन्मयता : जागृति के लिए, विश्वास के साथ किया गया क्रियाकलाप को भक्ति

कहते हैं। जागृति लक्ष्य में अभिभूत होने को तन्मयता कहते हैं।

2. ममता और उदारता : जागृति पूर्वक, अन्य को अपने ही जैसा जागृत स्वरूप में परिवर्तित करने में, पोषण और संरक्षण व्यवहार, ममता है। स्व–प्रसन्नता पूर्वक, दूसरों की जीवन जागृति, शरीर स्वस्थता और समृद्धि के लिए आवश्यकता अनुसार तन मन धन रूपी अर्थ का अर्पण समर्पण करना – उदारता है।

3. सम्मान और सौहार्द्रः मूल्यांकन के आधार पर – व्यक्तित्व (आहार, विहार, व्यवहार) और प्रतिभा (ज्ञान, विवेक और विज्ञान) की स्वीकृति और उसका संतुलित प्रकाशन – सम्मान है। मूल्यांकन और स्वी.त अवधारणों के अनुसार परस्परता में प्रस्तुति करने के क्रियाकलाप को सोहार्द्र कहते हैं।

4. स्नेह और निष्ठा : स्वयं – स्फूर्तता से अर्थ स्वयं की संतुष्ट से, में और के लिए न्याय पूर्ण व्यवहार की स्वीकृति – स्नेह है। जागृति लक्ष्य को प्राप्त और प्रमाणित करने के निरंतर प्रयास को निष्ठा कहते हैं।

5. पुत्र–पुत्री और अनुराग : शरीर रचना के कारक और जागृति लक्ष्य को पाने में पूरक होना, पोषण और सुरक्षा की स्वीकृति, व्यवसाय पूर्वक आवश्यकताओं को पूरा करना, शिक्षा संस्कार के लिए सक्षम और योग्य होना और संपूर्ण ज्ञान करने के लिए समर्पित होना – यह पुत्र–पुत्री संबंध की स्वीकृति है। संबंध में मूल्य निर्वाह करने में सफलता और रसास्वादन।

6. स्वामी और दायित्व : सार्वभौम व्यवस्था में प्रमाणित करता हुआ समाधान प्राप्त व्यक्ति ही स्वामी है। व्यवहार, व्यवसाय और व्यवस्था संबंध में मूल्यों सहित शिष्टता पूर्वक निर्वाह करने को दायित्व कहते हैं।

7. सहयोगी और कर्तव्य : पूर्णता के अर्थ में जिसके साथ–साथ अनुगमन करते हैं वह सहयोगी है। ऐसा करते हुए मूल्य पूर्वक कार्य और सेवा को कर्तव्य कहते हैं।

8. स्वायत्त और समृद्धि – परिवार की आवश्यकता से अधिक श्रम पूर्वक उत्पादन करने का मूल्यांकन पूर्वक अनुभव – स्वायत्त है। परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने को प्रमाणित करना समृद्धि है।

9. हित और स्वास्थ्य : शीर पोषण और संरक्षण हित है। मन एवं प्रवृति के अनुसार कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का क्रियाकलाप स्वास्थ्य है।

10. प्रिय और प्रवृति : ज्ञानेन्द्रियों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधामक तंत्र) का नैसर्गिक योग और मानव से संयोग जो शरीर स्वास्थ्य के अर्थ में हैं – उसे प्रिय कहते हैं। मानव की मानवीयता पूर्ण मानसिकता ही मानव की प्रवृति है।

11. उल्लास और हास : मानवीयता के हमारे 'स्वत्व' के रूप में होने पर हम उत्सवित होते हैं। हमारे उत्सवित होने का जो हम पारदर्शक प्रकाशन करते हैं, यह उल्लास है। समाधान के साथ और मानवीय लक्ष्य और दिशा की और हमारी गति सहित, हमारी मुस्कान के प्रकाशन को हास कहते हैं।

12. शील और संकोच : जागृति को प्रमाणित करने के क्रम में हम शिष्ट मूल्यों को व्यक्त करते हैं और इस अभिव्यक्ति के लक्षणों को शील कहते हैं।किसी भी स्थिति–परिस्थिति में स्वीकृति को शिष्टता पूर्वक व्यक्त करने को संकोच कहते हैं।

13. गुरु और प्रमाणिक : शिक्षा संस्कार को क्रमिक विधि से, जिज्ञासा और प्रश्नों के समाधान पूर्ण मार्गदर्शन से और समाधान, समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व रूपी अवधारणा को दूसरे में स्थापित करने वाल मानव को गुरु कहते हैं। गुरु स्वयं ही समाधान, समद्धि, अभय और सह अस्तित्व के प्रमाण का धारक वाहक होता है और उसे ही प्रमाणिक कहते हैं।

14. शिष्य और जिज्ञासु : जागृति लक्ष्य और गुरु संबंध को स्वीकारते हुए, शिक्षा संस्कार के लिए प्रस्तुत मानव को शिष्य कहते हैं। जीवन ज्ञान सहित निर्भ्रम शिक्षा संस्कार ग्रहण करने की तीव्र इच्छा को प्रकाशित करने वाले को जिज्ञासु कहते हैं।

15. भाई–मित्र और प्रगति : एक ही माँ से भाई संबंध और सगे भाई जैसे को मित्र संबंध कहते हैं। मानवत्व आचरण सहित समग्र व्यवस्था में भागीदारी की ओर गति को प्रगति कहते हैं।

16. बहन और उन्नति : एक ही माँ से बहन संबंध है और जागृति की ओर गति को उन्नति कहते हैं।

17. स्वीकृति और स्वागतः सह अस्तित्व में अनुभव के प्रभाव में स्पष्ट होने वाले संपूर्ण संकेत को परावर्तन और प्रत्यावर्तन में प्रमाणित करने को स्वीकृति कहते हैं। स्वयं में मानसिक, बौद्धिक और ऐच्छिक तैयारियां जो सह अस्तित्व में अनुभव की और गति प्रदान करती है उसे स्वागत भाव कहते हैं

18. रूचि और पहचान : इन्द्रियों के साथ, वस्तु के योग से प्राप्त परिणाम की स्वीकृति को पहचान कहते हैं और इस पहचान में इन्द्रियों की रचनात्मक व्यवस्था में अनुकूलता को रूचि कहते हैं

19. सुख और स्फूर्ति : न्याय में निष्ठा और विवेक सम्मत विज्ञान और विज्ञान सम्मत विवेक पूर्ण विचार शैली को समाधान कहते हैं और यह ही सुख है। समाधान रूपी व्यवस्था को अपने जीने के हर आयाम में प्रमाणित करने की तत्परता को स्फूर्ति कहते हैं

20. पति/पत्नी और यतित्व/सतीत्व : शोध पूर्वक समझने को यतित्व और संकल्प पूर्वक समझने को सतीत्व कहते हैं। परिवार के आकार में एक संबंध पति–पत्नी स्वरूप में है जिसमें शरीर संबंध संतान के अर्थ में सार्थक है और इस संबंध में जीवन जागृति ही लक्ष्य है।

21. माता और पोषण : पुत्र/पुत्रियों को पहचानते हुए उनके शरीर स्वस्थता और मानवीयता पूर्ण मानसिकता का पोषण करने वाले को माता कहते है। शरीर व्यवस्था के अनुकूल वस्तु को शरीर पोषण और मानवीय संस्कार को जीवन पोषण कहते हैं।

22. पिता और संरक्षण : शरीर स्वस्थता और जीवन जागृति को सुगम कराने को संरक्षण कहते हैं और परिवार संबंध में इसको प्रदाय करने वाले को पिता कहते हैं।

23. ज्ञान–इन्द्रिय और कर्म–इन्द्रिय क्रियाएं : (45–64) क्रियाएं ज्ञान–इन्द्रिय और कर्म–इन्द्रिय आचरण क्रियाओं के स्वरूप में है जो निम्नलिखित है – मृदु–कठोर, शीत–उष्ण, मीठा, चरपरा, कडुवा, कसैला,अम्ल, खारा,और सुगंध–दुर्गंध और सुरूप–कुरूप। आंख रूपी ज्ञान–इन्द्रिय का वस्तु के साथ येग के सुरूप–कुरूप परिणाम है, नाक से सुगंध–दुर्गंध, जीह्वा से मीठा, चरपरा, कसेला आदि, स्पर्श से शीत–उष्ण परिणाम है, कान से कठोर या सार्थक शब्द परिणाम है। ज्ञान–इन्द्रियों के परिणाम का प्रयोजन शरीर स्वास्थ्य अर्थात पोषण के अर्थ में है।

वृति की आचरण क्रिया (36)

1. विद्या और प्रज्ञा : जो जैसा है उसे वैसा ही जानने और उसके आधार पर स्वीकारने की क्रिया को जीवन विद्या कहते हैं। जानने और मानने के आधार पर पहचानने और निर्वाह करने की क्रिया को प्रज्ञा कहते हैं।

2. कीर्ति और विचार (वस्तु) : वर्तमान में, विकास और जागृति में श्रेष्ठता की प्रमाण सहित प्रस्तुति को कीर्ति कहते हैं। ऐसी श्रेष्ठता में जीने की कला के लिए आवश्यकीय मानसिकता को विचार वस्तु कहते हैं।

3. निश्चय और धैर्य : मानवीय लक्ष्य, आचरण पूर्णता की दिशा और प्रयोजन की और गति को निश्चय कहते हैं। न्यायपूर्ण विचार अर्थात संबंध की पहचान, मूल्य का निर्वाह और मूल्यांकन पूर्वक उभय तृप्ति को धैर्य कहते हैं।

4. शांति और दया : इच्छा और विचार के बीच में संगीतमय तालमेल को शांति कहते हैं और इसकी निरंतरता सह अस्तित्व में है। जो जैसा है अर्थात् जैसी उसकी पात्रता है उससे वैसे ही रूप में सुरक्षित रखना और उसके अग्रिम विकास में सहायक होने को दया कहते हैं।

5. कृपा और करुणा : अन्य को पात्रता उपलब्ध कराने की क्षमता को कृपा कहते हैं अर्थात् यथार्थता और वास्तविकता को जानने और स्वीकार करने के लिए उत्प्रेरित करना। यथार्थता और वास्तविकता को जानने, स्वीकार करने, पहचानने और निर्वाह करने में सहायता को करुणा कहते हैं।

6. दम और क्षमा : सभी प्रकार के आवेशित गतियों से मुक्त होकर मानवीयता रुपी स्वभाव गति में स्थित रने को दम कहते हैं। अन्य को मानवीयता की दिशा में सहायता के समय उसके अमानवीय .त्यों से अप्रभावित रहने को क्षमा आचरण कहते हैं।

7. तत्परता और उत्साहःजागृति, जागृति क्रम और विकास क्रम में सक्रियता को तत्परता कहते है और उत्थान के लिए साहस अर्थात मानव, देव मानव पद, सभ्यता, संस्कृति, विधि और व्यवस्था के प्रति निष्ठा को उत्साह कहते हैं।

8. कृतज्ञता और सौम्यता : विकास और जागृति की दिशा में जिस सहायता से उन्नति हो उसकी स्वीकृति को कृतज्ञता कहते हैं। स्वेच्छा से स्वयं का नियंत्रण को सौम्यता कहते हैं।

9. गौरव और सरलता : स्वयं में स्वीकृत मूल्य, मूल्यांकन और उभय तृप्ति को गौरव कहते हैं और इसकी ग्रंथि और तनाव रहित अभिव्यक्ति को सरलता कहते हैं।

10. विश्वास और सौजन्यता : मानव और नैसर्गिक परस्परता में मूल्य निर्वाह की स्वीकृति को विश्वास कहते हैं। परस्परता में अन्य के साथ सहकारी होने, सहभागी होने, सहयोगी होने और पूरक होने के अभिव्यक्ति को सौजन्यता कहते हैं।

11. सत्य और धर्म : जो भूत, भविष्य और वर्तमान में एक सा भासमान, विद्‌यमान और अनुभवगम्य है वह सत्य है। सह अस्त्त्वि ही सत्य है। जिससे, जिसको अलग न किया जा सके उसे धर्म कहते हैं। मानवता ही मानव धर्म है।

12. न्याय और संवेदना : संबंध और मूल्य की पहचान, मूल्यांकन पूर्वक उभय तृप्ति की प्रक्रिया को न्याय कहते हैं। जागृति सहज विधि से ज्ञान इन्द्रिय का सम्वेगित होने का संवेदना कहते हैं

13. तदात्मता और साहस : नित्यता के अर्थ में स्वयं में, स्वयं से और स्वयं के लिए किए गए निश्चय को तदात्मता कहते हैं। वहन क्षमता अर्थात सहनशीलता और प्रसन्नता पूर्वक किया गया कार्य व्यवहार को साहस कहते हैं।

14. संयम और नियम : मानवीयता पूर्ण विचार, व्यवहार और व्यवसाय में नियंत्रित को संयम कहते है। नियंत्रण पूर्वक अर्थात स्वयं स्फूर्तता के साथ भागीदारी की प्रवृति को नियमपूर्वक आचरण कहते हैं।

15. वीरता और धीरता : न्याय के प्रति निष्ठा को धीरता और अन्य को न्याय उपलब्ध कराने में, अपनी भौतिक और बौधिक शक्ति का नियोजन करने को वीर आचरण कहते हैं।

16. भाव और संवेग : इकाई की मौलिकता को भाव कहते है। मानवीयता मानव की मौलिकता है। अर्थात मानव का स्वभाव है। मानवीयता के स्वभाव के अर्थ में विचार, कार्य, व्यवहार, भागीदारी की मानसिकता को संवेग कहते हैं।

17. जाति और काल : अणु और अणु रचित पिंड में अनेकता, पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था और जीव अवस्था में अनेक प्रकार की प्रजाति और ज्ञान अवस्था में एक मानव जाति के अर्थ में

जाति है। क्रिया नियति सहज रूप में निरंतर है और उनमें परिवर्तन के दो निश्चित ध्रुव की अवधि को काल कहते हैं।

18. पुष्टि और तुष्टि : समझदारी पूर्वक सद्‌गुण सम्पन्नता, परिवार में समाधान और समृद्धि को प्रमाणित करना अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी करना – यह तुष्टि है। तुष्टि के निरीक्षण और परीक्षण पूवर्क मूल्यांकन को पुष्टि कहते हैं और यह क्रिया पूर्णता और आचरण पूर्णता की निरंतरता की ओर गति है।

चित्त की आचरण क्रिया (16)

1. श्रुति और स्मृति : सह–अस्तित्व सहज यथार्थता की भाषापूर्वक अभिव्यक्ति, संप्रेष्णा और प्रकाशन को श्रुति कहते हैं। किसी भी जानकारी का आवश्यकतानुसार भाषापूर्वक प्रस्तुति करने को स्मृति कहते हैं।

2. मेधा और कला : स्मृति की धारक वाहक क्रिया या कला को साक्षात्कार करने वाली क्रिया को मेधा कहते हैं। उपयोगिता और कला मूल्य के प्रकाशन की क्रिया को कला कहते हैं

3. कांति और रूप : स्वयं के स्वरूप को, शरीर कार्यकलाप के साथ दृष्टा पद के वैभव के मूल्यांकन क्रम को जीवन कान्ति कहते हैं। आकार, आयतन और धन की स्वीकृति को रूप कहते हैं।

4. निरीक्षण और गुण : अनुभवमूलक दर्शन और उसके प्रकटन की संयुक्त चिंतन और चित्रण क्रिया को निरीक्षण कहते हैं। परस्परता में शक्ति के प्रकटन को गुण कहते हैं।

5. संतोष और श्री : आवश्यकता से अधिक उत्पादन सहित, विवेक सम्मत विज्ञान और विज्ञान सम्मत विवेक के रूप में पूर्ण विचार शैली, योजना और कार्य–योजना के रूप में प्रमाणित करने की स्वीकृति को संतोष क्रिया कहते हैं । समृद्धि की निरंतरता की स्वीकृति को श्री की संज्ञा है।

6. प्रेम और अन्नयता : दया, कृपा और करुणा को स्वीकृति ही प्रेम अनुभूति आचरण क्रिया है। पूरक क्रियाकलाप को अनन्यता कहते हैं।

7. वात्सल्य और सहजता : वत्स संबंध का शरीर स्वास्थ्य के लिए पोषण और मानवीयता के लिए सरंक्षण को वात्सल्य क्रिया आचरण कहते हैं। व्यवहार, रीति, विचार और अनुभव में एकसूत्रता से स्पष्टता और प्रमाणिकता के क्रिया आचरण को सहजता कहते हैं।

8. श्रद्धा और पूज्यता : श्रेष्ठता की ओर गतिशीलता के स्वीकृति को श्रद्धा और विकास और जागृति में सक्रियता को पूज्यता कहते हैं।

बुद्धि की आचरण क्रिया (4)

1. आनंद और धी : बिना रुकावट का नित्य उत्सव क्रिया को आनंद कहते है। उत्सव के परार्वतन की तत्परता को धी कहते हैं।

2. अस्तित्व और धृति : स्थिति, गति, विकास, जागृति और वर्तमान सहज निर्भ्रम स्वीकृति को अस्तित्व आचरण क्रिया कहते हैं। सह–अस्तित्व सत्य में और इसके परावर्तन में निष्ठा को धृति कहते हैं।

आत्मा की आचरण क्रिया (2)

1. अनुभव और प्रमाणिकता : व्यापक सत्ता में सम्पृक्तता का नित्य वर्तमानता को अनुभव कहते हैं इससे परम तृप्ति भी कहते हैं। और अनुभव परम तृप्ति के प्रमाणीकरण को प्रमाणिकता क्रिया कहते हैं

इस प्रकार जीवन सहज 122 आचरण क्रिया, मानवीयता पूर्ण आचरण – मूल्य नैतिकता और चरित्र के आधारगत क्रियाएं हैं।

अभ्यास व अध्ययन

पाठ – 10

परिवार व्यवस्था

जैसे कि हम पहले पढ़ चुके हैं कि जागृत परिवार कम से कम तीन आयामों में जीता है न्याय, उत्पादन और विनिमय जागृत परिवार में संबंधों की स्वीकृति, उन्में भागीदारी, उन्में मूल्यों का निर्वाह और जीवन तृप्ति ही न्याय है। परिवार में न्याय में जीने का पल सुरक्षा है। अर्थात जागृत परिवार संबंधों में पूरकता पहचानता है और एक इकाई के रूप में सुरक्षित महसूस करता है। परिवार में सुरक्षित होना ही समाज में अभय के अनुभव की पृष्ठभूमि है। साथ ही, जागृत परिवार अपने शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के अर्थ में उत्पादन–कार्य करता है उत्पादन से प्राप्त भौतिक वस्तुओं का परिवार अपने मुहल्ले या गाँव में लाभ–हानि मुक्त विनिमय करता है। न्याय के धरातल पर ही मानवीय उत्पादन और विनिमय संभव है। न्याय के अभाव में परिवार शोषण में प्रवृत्त रहता है। अर्थात अजागृत परिवार संग्रह और लाभ के अर्थ में व्यवसाय करता है।

जागृत परिवार के पास उत्पादन के लिए जमीन, खाद, बीज, गाय, औजार, मशीनें और अन्य भौतिक साधन हैं। इनका प्रयोग कर वह कई भौतिक वस्तुओं का उत्पादन करता है जैसे अनाज, सब्जी, दूध, घी, अचार, तेल कई प्रकार के औजार, बर्तन, यंत्र, वाहन इत्यादि। वह इन उत्पादित वस्तुओं को परिवार के श्रम के प्रतिफल के रूप में पहचानता है। भौतिक आवश्यकताओं की पहचान और उसके अनुसार वस्तुओं का उत्पादन परिवार में ही संभव है। जागृत परिवार के अन्य सदस्यों के सहयोग से वस्तुओं का श्रमपूर्वक उत्पादन होता है। उत्पादन में सभी सदस्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में जुडे होते हैं युवा और प्रौढ प्रत्यक्ष रूप से व्यवसाय अथवा उत्पादन के लिए श्रम करते हैं। कुछ सदस्यों का श्रम भोजन बनाने और घर की देख–रेख जेसै सेवा–कार्यों में लगता है। कुछ सदस्य जैसे वृद्धों की भागीदारी श्रम में न हो कर घर में अनुकूल वातावरण बनाये रखने में होती है। इन सदस्यों की अप्रत्यक्ष भागीदारी से ही युवा और प्रौढ़ अपना श्रम और समय उत्पादन में लगा पाते है। अर्थात परिवार जैसी व्यवस्था में उत्पादन करना और उसका प्रतिफल प्राप्त सहज है।

जागृत परिवार में परिवार को बनाये रखने में सबकी भागीदारी है। संबंधों की स्वीकृति ही इस

भागीदार का मूल आधार है। अतः घर, जमीन, उत्पाद से प्राप्त प्रतिफल और अन्य भौतिक वस्तुएं परिवार की संपत्ति है। यही जागृत परिवार–मानव का स्व–धन है। स्व–धन परिवार मूलक व्यवस्था में ही परिभाषित होना संभव है क्यों कि व्यवस्था में जीने की सबसे छोटी इकाई परिवार है। कोई भी व्यक्ति अलगाव में नहीं जीता है। उसके भोजन, वस्त्र, आवास से लेकर उसकी शिक्षा, व्यवसाय इत्यादि में कई लोगों की भूमिका रहती है। अर्थात मानव या अस्तित्व व प्रयोजन परस्परता में ही स्पष्ट होता है।

साथ ही, मानव अपने से बड़ी व्यवस्था (गाँव, समाज) में भी परिवार सहित भागीदार होता है। मानव की केवल व्यक्तिगत रूप से व्यवस्था में भागीदार संभव नहीं है। व्यवस्थागत कार्यक्रमों में भागीदारी परिवार के सहयोग से हो पाती है। मानवीय व्यवस्था में जागृत परिवार अपने समूह से एक सदस्य को परिवार के प्रतिनिधि के रूप में चिन्हित करता है जैसे व्यवस्थागत कार्यक्रमों में मुख्य रूप से भागीदार होता है। अतः प्रतिनिधि को सामाजिक कार्यों के लिए गाँव य समाज से प्राप्त पुरस्कार का भी पारिवारिक संपत्ति होना सहज है।

प्रतिफल और पुरस्कार दोनों ही परिवार का स्व–धन हैं। जागृत परिवार–मानव का न्याय में स्थापित होने से वह सम्पत्ति को परिवार के स्तर पर ही पहचानता है। अन्यथा, सम्बंधों की स्वीकृति के आभाव में अजागृत मानव परिवार ओर समाज में रहते हुये भी असुरक्षित महसूस करता है। इस असुरक्षा के कारण वह अपने लिये अलग से बस्तुओं को जमा करने का कार्यक्रम बनाता है। स्वयं को परिवार से अलग मान कर भौतिक अवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कार्यरत होना, अजागृति का संकेत है। साथ ही, भौतिक वस्तुओं के संग्रह से स्वयं को सुरक्षित करने का प्रयास ही भ्रम है। संबंधों में जीने से ही मानव सुरक्षित होता है। संबंधों में न्याय पूर्वक जीने में भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति निहित है।

मानव का परिवार के स्तर पर स्व–धन पहचानना सहज है। जैसे माता–पिता शिशु एवं किशोर के लिये भोजन, कपड़े उपलब्ध कराते है, शिक्षा के लिये कॉपी, पेन्सिल, किताबें उपलब्ध कराते है। संतान इन बस्तुओं को अपनी सम्पत्ति के रूप में सहजता से स्वीकारता है। परिवार से प्राप्त सम्पत्ति को परितोष कहते हैं। संतान अपनी और अपने परिवार के सम्पत्ति में भेद नहीं करता क्योंकि उसे अपने माता–पिता पर विश्वास रहता है कि वह उसका शुभ चाहते है शिशु युवा–अवस्था में पहुँच कर परिवार के लिये अन्य भौतिक वस्तुए उपलब्ध करता है परिवार भी उन वस्तुओं संयुक्त सम्पत्ति के रूप में पहचानता है क्योंकि उसे अपनी संतान पर विश्वास रहता है। बिना समझदारी के इस

विश्वास का किसी क्षण भी अविश्वास में बदलने की पूरी संभावनायें बनी रहती है। इसी लिये आज–कल कई परिवारों में टूटन व सम्पत्ति का बटवारा दिखता है। जहाँ बटवारा नहीं हुआ तो, वहाँ बटवारे के भय से परिवार के सदस्य जीते है। इस भय–वष वे अधिक वस्तुओं का संग्रह करते है। समझदारी सहित मानव के बीच विश्वास निरंतर बना रहता है। अर्थात जागृत होने पर सम्बंधों में पूरकता समझ में आती है और परिवार में प्रतिफल, पारितोष और पुरस्कार स्व–धन के रूप में पहचानने के साथ–साथ स्व–धन पारिवारिक सम्पत्ति के रूप में स्वीकार होता ही है।

उत्पादन, विनिमय और न्याय जागृत परिवार के जीने के मुख्य कार्यक्रम है शिक्षा और स्वास्थ्य की समझ भी प्रारंभिक रूप में परिवार में शुरू होती है यद्यपि, उसकी पूर्ति के लिये समाज की भागीदारी अनिवार्य है। जैसे विद्यालय और स्वास्थ्य केन्द्र जैसी व्यवस्था में परिवार से अधिक लोगों की भागीदारी की आवश्यकता होती है। इसी लिये शिक्षा और स्वास्थ्य की व्यवस्था समाज में होती है।

मानवीय परम्परा में मानवीय शिक्षा उपलब्ध होती है मानवीय शिक्षा में स्वास्थ की समझ निहित है। जागृत परिवार ही मानवीय परंपराओं का धारक–वाहक होता है। अर्थात स्वयं मानवीयता पूर्ण आचरण में प्रतिष्ठित होता है और अग्रिम पीढ़ी जागृति के लिये प्रेरक होता है। अग्रिम पीढ़ी जागृत होती है आपने से अगली पीढ़ी के लिये प्रेरणा का स्रोत होती है इस तरह पीढ़ी दर पीढ़ी शिक्षा और स्वास्थ्य की परम्परा बनी रहती है। और प्रत्येक पीढ़ी मानवीय परंपराओं को सवंर्धित भी करती है।

अभ्यास व अध्ययन

1. समझना, सीखना, करना – इन्हें स्पष्ट कीजिए।
2. परिवार में मैं समृद्धि को किस तरह प्रमाणित करता/करती हूँ?
3. परिवार में शान की परंपरा कैसे बनती है?
4. शिक्षा से व्यवस्था तक की आवर्तनशीलता को स्पष्ट कीजिए।
5. दायित्व और कर्तव्य को स्पष्ट कीजिए।
6. न्यायपूर्वक जीने का अर्थ क्या है?

पाठ–11

मानव–संबंध

मानव का मानव के साथ जीना स्वाभाविक है। मानव साथ जीकर कभी सुखी होते हैं और कभी अपने आप को दुखी पाते हैं। मानव के साथ जीने में सुख की अनिश्चता क्यों है? क्या यह अनिश्चिता मानव को स्वीकार्य है?

संबंध मानव–मानव के बीच एक अस्तित्व'सहज व्यवस्था है। जागृत होने पर मानव स्वयं में व्यवस्थित होता है और अपना दूसरे के साथ संबंध पहचान पाता है। संबंध पहचानने पर ही वह उसके साथ निरंतर सुखपूर्वक जी पाता है। अजागृत मानव संबंधों में जीना चाहता है परंतु ज्ञान के अभाव में दूसरे के साथ न्यायपूर्वक जी नहीं पाता है।

मानव के साथ संबंधों में जीने का प्रयोजन क्या है?

जागृत मानव संबंधों में मानव लक्ष्य की पूर्ति के लिए जीता है। मानव लक्ष्य क्या है? सभी मानव निरंतर सुखी होना चाहतें हैं। वे सुखी होते हैं और स्वयं में समाधान, परिवार में समृद्धि, समाज में अभय और अस्तित्व में सह–अस्तित्व के भाव में जीते हैं। प्रत्येक संबंध इसी लक्ष्य के अर्थ में सार्थक होता है। जागृत मानव ही यह लक्ष्य पहचानता है। स्वयं समाधान में जीता है और दूसरे के समाधानित होने में सहायक होता है। दूसरा समाधानित होता है और वह भी किसी और की जागृति के लिए सहायक होता है। यही मानवीय परंपरा की स्थापना है। मानवीय परंपरा में ही अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था संभव है।

परिवार–समाज में शिशु न्याय का याचक, सही कार्य–व्यवहार का इच्छुक और सत्य वक्ता होता है। मानवीय परंपरा होने से शिशु का जागृत अथवा सुखी होना निश्चित है। अर्थात वह वयस्क होने पर न्याय प्रदायी होता है, व्यवसाय में स्वालंबी और व्यवहार में सामाजिक होता है और अस्तित्व–दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण में पारंगत होता है। अमानवीय परंपरा में शिशु की चाहना, वयस्क होने पर अपेक्षा के रूप में बनी रहती है और अपेक्षा की आपूर्ति

से पीडित होकर वह स्वयं अमानवीयता, सुविधा–संग्रह में प्रवृत्त होता हैं अपितु, मानवीय परंपरा में हर शिशु का सत्य बोध होना अथवा एक जागृत मानव होना एक वास्तविकता है।

जागृत मानव के न्यायपूर्वक संबंधों में जीने से ही मानवीयता व जागृति की परंपरा सफल होती है। जागृत मानव 7 प्रकार के संबंधों में जीते हैं और मानवीय परंपरा को पुष्ट करते हैं। यह सात संबंध हैं:

1. माता–पिता–पुत्र–पुत्री
2. भाई–बहन
3. मित्र–मित्र
4. गुरु–शिष्य
5. साथी–सहयोगी
6. पति–पत्नि
7. व्यवस्थागत संबंध

संबंध	**क्रिया (भागीदारी)**	**मूल्य**	**वर्गीकरण**
1. माता–पिता–पुत्र–पुत्री	पोषण – संरक्षण, उपयोगिता–पूरकता	ममता, वात्सल्य, कृतज्ञता	परिवार में प्रमाणित
2. भाई–बहन	सहयोग (उत्पादन, विनिमय, न्याय में कार्यक्रम/योजना)	विश्वास, सम्मान, स्नेह	परिवार और समाज में प्रमाणित
3. मित्र–मित्र	परस्पर पूरक (उत्पादन, विनिमय, न्याय में कार्यक्रम/योजना)	विश्वास, सम्मान, स्नेह	समाज में प्रमाणित

4. गुरु–शिष्य	प्रमाणिक और जिज्ञासु (शिक्षा के माध्यम से संबंध का निर्वाह)	प्रेम, कृतज्ञता, गौरव, श्रद्धा	परिवार और समाज में प्रमाणित
5. पति–पत्नी	(उत्पादन, विनिमय, न्याय, शिक्षा, स्वास्थ्य में निर्वाह); शरीर निर्माण	विश्वास, सम्मान, स्नेह, गौरव	परिवार में प्रमाणित
6. साथी–सहयोगी	दायित्व और कर्त्तव्य (व्यवसाय – उत्पादन, विनिमय में दायित्व–कर्त्तव्य का निर्वाह)	विश्वास, सम्मान, स्नेह, कृतज्ञता	समाज के स्तर पर प्रमाणित
7. व्यवस्थागत–संबंध	व्यवस्था में भागीदारी – न्याय–सुरक्षा, उत्पादन–कार्य, विनिमय–कोष, शिक्षा–संस्कार, स्वास्थ्य–संयम की सम्मितियों में भागीदारी	विश्वास, सम्मान, स्नेह	सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में ग्राम, टोला, नगर, से लेकर विश्व परिवार सभा व्यवस्था में प्रमाणित

उपरोक्त सभी संबंध क्रिया अथवा भागीदारी के रूप में स्पष्ट होते हैं।

शिशु के शरीर और जीवन को पोषित–संरक्षित करने वाले व्यक्ति को माता–पिता के नाम से संबोधित किया जाता है। जागृत मानव एक दूसरे का अन्य व्यवस्थागत कार्यक्रमों में सहयोग करते हैं। वे एक साथ व्यवस्थागत कार्यों में नए प्रयोग करते हैं और परस्पर पूरक होत हैं। यह भाई–बहन–मित्र का संबंध कहलाता है। मानवीयता में प्रमाणित व्यक्ति शिशु की जिज्ञासा को उत्तरित करता है और शिशु को जागृति की और ले जाता है। यह भागीदारी गुरु का शिष्य के साथ संबंध परिभाषित करता है। जागृत मानव अपने दायित्व–कर्त्तव्य का निर्वाह करके, एक–दूसरे के लिए व्यवसाय में पूरक होते हैं, इस संबंध को साथी–सहयोगी के नाम से संबोधित किया जाता है।

जागृत मानव अपने से बड़ी व्यवस्था जैसे गाँव–समाज में भी भागीदार होते हैं। उत्पादन–कार्य, विनिमय–कोष, न्याय–सुरक्षा, शिक्षा–संस्कार, स्वास्थ्य संयम जैसे व्यवस्थागत कार्यों में अपना श्रम लगाते हैं और समाज की व्यवस्था को बनाये रखते हैं। इस भागीदारी के निर्वाह को व्यवस्थागत संबंध कहते है।

इस संबंध में जागृत मानव के अनेक व्यक्तियों के साथ प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष संबंध होते हैं। जैसे जागृत परिवार–मानव अपने शरीर की आवश्यकता की पूर्ति के लिए कुछ वस्तुओं का परिवार में उत्पादन करता है और कुछ वस्तुओं को अन्य जागृत परिवारों में विनिमय–विधि से प्रापत करता है। जैसे गेहूँ, चावल, सब्ज़ी की पैदावार कुटीर उद्योग वह परिवार में करता है और षेश वस्तुओं को वह अन्य परिवार से प्राप्त करता है। ये जागृत मानव के व्यवस्थागत संबंध हैं क्योंकि ये संबंध ा परिवार और समाज की व्यवस्था को बनाए रखने के आधार पर है। इन संबंधों में लगातार मिलना होता रहता है।

इसी तरह कुछ व्यवस्था–संबंध अप्रत्यक्ष रूप में पहचाने जाते हैं। जैसे जागृत मानव रेलगाड़ी का प्रयोग करते समय इस विश्वास से रेलगाड़ी में बैठता है कि रेलगाड़ी का वाहनचालक उसे कुछ समय में सही–सलामत अगने स्थान तक पहुंचा देगा। यह भी व्यवस्थागत संबंध का निर्वाह है जिसमें दोनों मानव का मिलना, संबंध को पहचानने के लिए अनिवार्य नहीं है। इस अप्रत्यक्ष संबंध को संपर्क कहते है।

संपर्क में मानव का आपस में मिलना कम होता है या मिलना नहीं होता है परन्तु तब भी जागृत मानव दूसरे के प्रति न्यूनतम विश्वास और सम्मान के साथ जीता है। अर्थात संपर्क में मिलने पर सम्मानजनक व्यवहार ही जागृत मानव के सुख का स्रोत है। संपर्क में लगातार मिलने पर जागृत मानव में संपर्क संबंध में बदल जाता है। इन संबंधियों को जागृत मानव भाई–बहन के नाम से ही संबोधित करता है।

शिशु भाई–बहन–मित्र, गुरु–शिष्य, माता–पिता–संतान संबंधों में जीकर जागृत होता है। जागृत मानव भाई–बहन–मित्र, गुरु–शिष्य, माता–पिता–संतान के साथ–साथ साथी–सहयोगी, पति–पत्नि और व्यवस्था संबंध में भी प्रमाणित होता है। मानव माता–पिता को अपनी जागृति के लिए पूरक स्वीकारता है और उनके साथ अपनी उपयोगिता–पूरकता व्यक्त करता है। यह एक

संतान का माता–पिता के साथ संबंध का निर्वाह है। पूर्णता के अर्थ में अग्रिम पीढ़ी ही संतान है। जैसे माता–पिता की प्रौढ़–अवस्था और विशेष रूप से वृद्धावस्था में जागृत संतान सेवा करती है, उनके शरीर के लिए उपयुक्त आहार, विहार का ध्यान रखती है। यह जागृत संतान का माता–पिता के साथ स्वी.त संबंध है। अर्थात जागृत संतान वह हर व्यक्ति है जो परिवार में बुजुर्ग के शरीर के पोषण–संरक्षण का ध्यान रखती है और परिवार की आवश्यकाओं की पूर्ति के लिए परिवार में श्रेष्ठ व्यक्तियों का उत्पादन और सेवा कार्यों में सहयोग करती है।

शिशु का जागृत होना और मानव का निरंतर जागृति में जीना – इन दो स्थिति में भागीदार होना ही संबंध में जीने का प्रमाण है। जागृत मानव एक साथ न्यायपूर्वक जीते हैं और संबंधों में मूल्यों का निर्वाह करते हैं।। किसी जागृत नर–नारी में मूल्यों के निर्वाह के साथ–साथ एक शरीर का संबंध भी होता है। वह एक शरीर का निर्माण करते हैं और उस शिशु की जागृति के लिए समर्पित होते हैं। इस भागीदारी का निर्वाह पति–पत्नि के संबंध में होता है।

मानवीय परंपरा में सात संबंधों में केवल पति–पत्नी का संबंध ऐच्छिक होता है। जैसे कोई जागृत व्यकिक्त व्यवस्थागत कार्यों में ज़्यादा रूचि रखता है तो उसका विवाह न करना संभव है। ऐसा व्यक्ति परिवार की सहमति से घोषणापूर्वक व्यवस्था के कार्यों में अपने आप को अर्पित करता है और समाज के नियम अनुसार एक पुरुष और एक स्त्री के बीच पति और पत्नि के संबंध का सम्मान करता है।

साथ ही, परिवार और समाज में जागृत मानव को मित्र, भाई, बहन, साथी, सहयोगी के रूप में अनेक संबंधी स्वी.त होते हैं। अपितु पति–पत्नी के रूप में जागृत मानव को एक ही संबंध स्वी.त होता है।

परस्परता में भागीदार होना ही संबंध होने का प्रमाण है। संबंध में निहित मूल्य जागृत मानव में निरंतर स्थापित रहते हैं। जैसे जागृत माता–पिता संतान के साथ संबंध पहचानते हैं और संतान के प्रति स्वतः ममता, वात्सलय को अनुभव करते हैं। साथ ही, संतान अपने जागृत माता–पिता को अपने शुभ के अर्थ में देख, स्वयं में .तज्ञता का भाव अनुभव करती है। इसी तरह, संतान जागृत माता–पिता के सानिन्नध्य से श्रेष्ठ व्यक्ति को अपना गुरु स्वीकारती है और उनके प्रति .तज्ञता, गौरव और श्रद्धा का भाव पहचान कर उनके साथ अपनी जागृति के लिए प्रयासरत रहती है।

अतः संबंध में भागीदारी और मूल्य निहित है। संबंध एक क्रिया है और क्रिया के होने से ही संबंध स्पष्ट होता है। संबंध अथवा क्रिया के आधार पर संबोधन होता हैं। जागृत मानव के परिवार और समाज में जीने से उपरोक्त सात संबंध निरंतर बने रहते हैं परंतु उनसे संबंधित व्यक्ति बदल सकते हैं। अर्थात इन संबंधों में मूल्यों का निर्वाह अलग समय या अलग परिस्थिति में अलग व्यक्तियों के साथ हो सकता है। जैसे जागृत माँ शिशु को पोषण देती है, किसी कारणवश शिशु अपने मामा–मामी के घर रहने जाता है तो शिशु की मामी उसके पोषण की जिम्मेदारी सहजता से स्वीकारती हैं। यह उनका शिशु के प्रति स्नेह है। इस स्थिति में जागृत मामी माँ के संबंध की निर्वाह करती है। शिशु उने प्रति .तज्ञता का भाव अनुभव करता है और अपनी माँ का संस्मरण करने पर भी उनके प्रति वही भाव का अनुभव करता है।

अतः प्रत्येक जागृत मानव निंरतर संबंधों में मूल्य सहित जीता है और समाधान और समृद्धि की परंपरा बनाता है। इस मानवीय परंपरा के स्थापित होने से समाज में अखंडता और अभय और व्यवस्था में सार्वभौमिकता और सर्व मानव की स्वीकृति संभव होती है।

अभ्यास व अध्ययन

1. संबंधों का क्या प्रयोजन है?
2. माता–पिता अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था में किस तरह भागीदारी करते है?
3. मानव–मानव के बीच संबंधों को उनके प्रयोजन और मूल्यों सहित स्पष्ट कीजिए।

पाठ –12

मानव–मूल्य

संबंध और मूल्य अविभाज्य हैं। संबंध पूर्णता के लिए अनुबंध हैं और प्रत्येक इकाई की मौलिकता ही उसका मूल्य है। इकाई की मौलिकता की पहचान परस्परता में ही संभव है। अतः दो इकाइयों के आपस में संबंध से ही उनमें निहित मूल्यों की पहचान होती है। परस्परता में दोनों इकाइयों के बीच मूल्यों का आदान–प्रदान होता है। इसलिए संबंध पहचानते हैं तो उनमें मूल्यों का निर्वाह निहित है, यह दिखता है। मूल्य पहचानते हैं यानि उन दो इकाइयों का आपस में एक निश्चित संबंध है, यह समझ में आता है। संबंध और मूल्य दोनों क्रियाएँ साथ–साथ होती हैं और जागृत मानव उन्हें एक साथ ही पहचानता अथवा स्वीकारता है।

संबंध है क्योंकि अस्तित्व सह–अस्तित्वपूर्वक है। सह–अस्तित्व के नियम से हर इकाई एक दूसरे क`लिए पूरक है। मानव का हर इकाई के साथ एक निश्चत संबंध है। मानव जागृत है तो वह हर इकाई के साथ संबंध पहचानता है और उनके साथ पूरकता में भागीदार होता है। अजागृत मानव दूसरी इकाइयों का शोषण करता है या स्वयं अन्य अजागृत मानव से शोषित होता है। मानव का, परिवार के साथ, समाज के साथ और प्रकृति के साथ संबंध है। ये संबंध ही जागृत मानव की मौलिकता है जिसमें वह सभी मानव के साथ न्यायपूर्वक जीता है और प्रकृति के साथ्ज्ञ नियमपूर्वक जीता है।

मौलिकता का अर्थ स्थिति में धर्म, गति में स्वभाव संपन्न क्रिया से है। अर्थात मानव स्वयं में निरंतर सुख चाहता है (धर्म) और संबंधों में न्यायपूर्वक जीना चाहता है। जागृत मानव निरंतर सुख की स्थिति में होता है और गति के रूप में मूल्यों अथवा अपनी भागीदारी का निर्वाह करता ही है। उपरोक्त अनुसार यह दोनों क्रिया अविभाज्य है – मानव की स्थिति अनुसार गति होती है, धर्म अनुसार स्वभाव होता है।

मौलिकता ही मूल्य संपन्नता है। मूल्य सार्वभौमिक और सर्वकालिक हैं। यह स्थान और काल अनुसार बदलते नहीं हैं। मूल्य किसी वस्तु या इकाई की मौलिकता है न कि उसकी कीमत।

कीमत समय और देश के साथ–साथ बदलती रहती है। कीमत में कोई निश्चितता नहीं है। यद्यपि मूल्य निश्चित है। जैसे रायपुर के चावल की कीमत में और दिल्ली के चावल की कीमत में अंतर है, परन्तु चावल शरीर के पोषण के लिए उपयोगी वस्तु है, यह उसका निश्चित मूल्य है जो देश और काल से अप्रभावित है।

मानव के जीने के चार आयाम हैं – अनुभव, विचार, व्यवहार, व्यवसाय। जागृत जीवन अनुभव में सह–अस्तित्व, विचारों में समाधान, व्यवहार में न्याय और व्यवसाय में समृद्धिपूर्वक जीता है। समाज के साथ संबंध पहचानना ही विचारों में समाधान की स्थिति है। परिवार के साथ संबंध स्वीकारना ही व्यवहार में न्याय की स्थिति है। प्रकृति के साथ संबंध समझना ही व्यवसाय में समृद्धि की स्थिति है। अतः जागृत मानव के संबंधों का फैलाव (स्वयं से लेकर प्रकृति तक) ही उसके जीने के चारों आयामों को परिभाषित करताहै। अजागृत मानव भय और प्रलोभनवश सुविध ाा–संग्रह में अपना सारा श्रम लगा देता है। समझ के अभाव में वह संबंध की वस्तु को पूर्णता में नहीं पहचान पाता है। इसलिए वह संग्रह, लाभ की और प्रवृत्त रहता है। यही अमानवीयता का घोतक है। अमानवीयता ही युद्ध जैसी आवश्यकताओं का मुख्य कारण है।

जागृत मानव हर आयाम में मूल्यों का अनुभव करता है और तृप्त होता है। उपरोक्त अनुसार चारों आयामों में जीने से ही मानव संतुष्ट होता है। इससे कम में जीने से वह तृप्त नहीं होता।

मानव सह–अस्तित्व का अनुभव करता है और जागृत होता है। मानव अनुभव के स्तर पर स्वयं (जीवन) में सुख, शांति, संतोष और आनंद के मूल्यों को अनुभव करता है। सुख, शांति, संतोष, आनंद को जीवन मूल्य कहते हैं। सुख न्याय के प्रति निष्ठा और निर्विरोधिता का भाव है। शांति समाधानपूर्ण विचार की प्रतिक्रिया है। संतोष आवश्यकता से अधिक उत्पादन सहित विवेक सम्मत विज्ञान, विज्ञान सम्मत विवेक पूर्ण विचार शैली है। आनंद अनुभव की अभिव्यक्ति, सम्प्रेष्णा क्रिया है। जीवन मूल्यों का मानव अनुभव करता है और स्वयं में समाधानित होता है। समाधान अर्थात स्वयं में व्यवस्था और समग्र व्यवस्था (परिवार, समाज, प्रकृति इत्यादि) में भागीदारी का प्रमाण।

अनुभव संपन्न मानव विचारों में समाधानित होता है। अस्तित्व में किसी भी क्रिया के नियम की समझ होना ही समाधान है। अर्थात विचारों में स्पष्टता होने से जागृत मानव सह–अस्तित्व के नियम को समझता है और सबके समाधान के लिए सोचता–विचारता है – समाज में सभी

समाधानित हो, समाज में अभय का हो, समाज में शिक्षा, स्वास्थ्य, उत्पादन, विनियम, न्याय की व्यवस्था हो। अखंड समाज और सर्वभौम व्यवस्था तक जागृत मानव का चित्रण फैलता है और वह अपना कार्य–व्यवहार इसी लक्ष्य के तहत तक करता है। वह समाज में सार्वभौम व्यवस्था के लिए अपना तन, मन और धन अर्पित करता है। यह धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा और करुणा के मूल्यों का निर्वाह है। इन्हें मानव–मूल्य कहते हैं।

स्वयं विश्वास और न्यायपूर्वक जीने की निष्ठा ही जागृत मानव की धरता है। अन्य को न्याय दिलाने की क्रिया में स्व–शक्तियों का नियोजन वीरता है। अपनी सुख–सुविधाओं को प्रसन्नतापूर्वक दूसरों के लिए उपयोगिता, सदुपयोगिता विधि से नियोजित करने की प्रवृत्ति ही उदारता है।

दया, विपन्नता को संपन्नता की और गति देने वाली क्रिया है जिसमें जागृत मानव बिना दूसरे के जीने में हस्तक्षेप किये उसके विकास में सहायक होते हैं। कृपा उपलब्धि के अनुसार अजागृत मानव में योग्यता सहज पात्रता स्थापित करना है। करुणा जागृत मानव का अजागृत मानव में पात्रता और योग्यता दोनों को स्थापित करने का क्रियाकलाप है।

जैसे जागृत मानव अथवा गुरु अपने शिष्य की ज्ञान को ग्रहण करने की क्षमता अनुसार उसे ज्ञान परोसता है। गुरु उतना समझाता है जितना शिष्य अपने अन्दर जाँच सकता है। इस जाँच–परख से शिष्य में और जिज्ञासा होती है और इस तरह उसकी समझने की पात्रता बढ़ती है। पात्रता बढ़न पर गुरु उसकी जिज्ञासा को उत्तरित करने के लिए तत्पर रहता है। शिष्य का जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण में पारंगत होना निश्चित है। इस ज़िम्मेदारी और करुणा साथ गुरु अपना श्रम लगाता है। शिष्य का जागृत होना भी गुरु का स्वयं जागृत होने का प्रमाण है।

जागृत मानव विचारों में समाधानित होता है और अपने व्यवहार में न्याय का अनुभव करता है। न्याय दो समाधानित मानव के बीच की पूरकता की स्थिति है। परिवार और समाज में न्याय में जीते हैं और अपने अखंडता का अनुभव करते हैं। समाज में भी अंखड़ता हो, इसके लिए कार्यरत रहते हैं। न्याय में 18 व्यवहार–मूल्यों का जागृत मानव परिवार और कुटुंब में दूसरों के साथ जीने में अनुभव करता है।

18 में से 9 स्थापित मूल्य हैं जो जागृत मानव की व्यवहार में स्थिति को परिभाषित करते हैं।

ये हैं :

विश्वास, सम्मान, स्नेह, ममता, वात्सल्य, गौरव, श्रद्धा, .तज्ञता और प्रेम।

1. विश्वास : परस्परता में निहित मूल्य निर्वाह।
2. सम्मान : श्रेष्ठता की स्वीकृति।
3. स्नेह : परस्परता में एक–सी जागृति और समाधान सहज अपेक्षा प्रमाण।
4. ममता: स्वयं की प्रतिरूपता की स्वीकृति, उसकी निरंतरता।
5. वात्सलय: वास्तविकता सत्यता सहज स्वीकृति सहित संबंध निर्वाह और उसकी निरंतरता।
6. गौरव: निर्विरोध पूर्वक, अंगीकार किये गए अनुकरण।
7. श्रद्धा : श्रेय की और गतिशीलता।
8. कृतज्ञता: जिस किसी की भी सहायता से विकास और जागृति की प्राप्ति में सफलता मिली हो, उसकी स्वीकृति।
9. प्रेम: पूर्णानुभति।

विश्वास हर संबंध का आधार है, अतः इसे आधार मूल्य भी कहते हैं। प्रेम में सभी भाव (मूल्य) समाहित हैं और इसलिए इसे परम मूल्य भी कहते हैं।

बाकि 9 शिष्ट मूल्य जो जागृत मानव की व्यवहार में गति परिभाषित करते हैं वह क्रमशः सौजन्यता, सौहार्द्रता, निष्ठा, उदारता, सहजता, सरलता, पूज्यता, सौम्यता और अनन्यता हैं।

1. सौजन्यता: मानव सहज समानता (चाहना, लक्ष्य, कार्यक्रम, संभावना के रूप में) का स्वीकृतिपूर्वक किये गए संप्रेष्णा।
2. सौहार्द्रता: जिस प्रकार से स्वीकृति हो उस अवधारणा, अनुभव, स्मुति और श्रुति को यथावत प्रस्तुत करने का क्रियाकलाप।

3. निष्ठाः निश्चित विधि के प्रति समर्पित और उसकी निरंतरता प्रदान किये रहना।
4. उदारताः तन, मन, धन रूपी अर्थ का अर्पण–समर्पण करना।
5. सहजताः आडम्बर तथा रहस्यता से मुक्त व्यवहार, रीति, विचार एवं अनुभव की एकसूत्रता क्रिया।
6. सरलताः ग्रंथि व तनाव रहित अंगहार, क्रियाकलाप।
7. पूज्यताः स्वीकार व अनुकरण करने योग्य ज्ञान, विवेक, विज्ञान संपन्नता सहित आचरणों की स्वीकृति सहित किया गया सम्मान।
8. सौम्यताः स्वेच्छा से स्वयं का नियंत्रण।
9. अनन्यताः निर्भ्रम ज्ञान की निरंतरता।

प्रेम की अभिव्यक्ति अर्थात सत्य की अनुभूति का प्रमाण ही अनन्यता है। अनन्यता ही पूर्ण शिष्टता है।

जागृत मानव अनुभव में सह–अस्तित्व, विचारों में समाधान और व्यवहार में न्यायपूर्वक जीता है तो व्यवसाय में समृद्ध होता है। समाधानित है अतः अपने शरीर के साथ संबंध समझता है, शरीर की आवश्यकताएँ पहचानता है और अपने परिवार की भौतिक आवश्यकताएँ पहचानता है। इस समझ के आधार पर समझदार व्यक्ति श्रमपूर्वक प्रकृति पर उत्पादन करता है, परिवार में आवश्यकता से अधिक उत्पादन करके समृद्धि स्थापित करता है और स्वयं समृद्धि में निरंतर जीता है। समृद्धिपूर्वक जीता है यानि वस्तु के मूल्यों को पहचानता है।

वस्तु में 2 मूल्य हैं – उपयोगिता और कला मूल्य है। उपयोगिता मूल्य उपयोग के आधार पर मूल्यांकन क्रिया है। आहार,आवास, अलंकार, दूरगमन, दूरश्रवन, दूरदर्शन संबंधी वस्तुएं ही उपयोगी हैं जो परिवार और समाज की व्यवस्था बनाए रखने के लिए अनिवार्य हैं। अर्थात उपयोगिता मूल्य वस्तु की मौलिकता स्थापित करता है – जैसे लकड़ी की मौलिकता उसकी मजबूती है। कला मूल्य उपयोगी वस्तु को मानव के लिए सार्थक और सुविधाजनक बनाता है – जैसे लकड़ी की कुर्सी बनाकर वह मानव के बैठने के काम आती है। यह दोनों मूल्यों वस्तु या

व्यवसाय मूल्य हैं जो मानव परिवार या कुटुंब या गाँव के सदस्यों के साथ कार्य (व्यवसाय) करते समय अनुभव करता है।

सार रूप में, अनुभव के आयाम में जागृत मानव जीवन मूल्य–युक्त होता है और स्वयं में समाधानित होता है। विचार में वह मानव मूल्यों का अनुभव करता है और समाज में सार्वभौम व्यवस्था की योजना बनाता है। व्यवहार में वह व्यवहार मूल्यों–युक्त होता है और परिवार से समाज तक न्याय स्थापित करना चाहता है अथवा अखंड समाज के लिए अपनी ऊर्जा लगाता है। व्यवसाय में वह वस्तु मूल्यों का अनुभव करता है और प्रकृति के साथ श्रमपूर्वक कार्य करता है और समृद्धि में जीता है। अतः चारों आयामों में मूल्यों का अनुभव करना उनका परस्परता (परिवार, समाज, प्रकृति) में निर्वाह करना है।

इन चारों आयामों में सबसे महत्वपूर्ण आयाम अनुभव है। अनुभव संपन्न व्यक्ति ही बाकि आयामों में व्यवस्थापूर्वक जी पाता है। अनुभव में विचार, व्यवहार, व्यवसाय निहित है यानि कि अनुभव संपन्न मानव में समाधान, न्याय और समृद्धि समाहित है।

अनुभव की स्थिति ही आनंद है। अतः आनंद जीवन मूल्यों में सर्वश्रेष्ठ मूल्य है। सर्वश्रेष्ठ मूल्य को गुरु मूल्य कहते हैं। गुरु मूल्य श्रेष्ठता का प्रमाण है। गुरु मूल्य में षेश(लघु) मूल्य निहित है। अर्थात सुख, शान्ति, संतोष मूल्य आनंद में समाये हैं। साथ ही, सभी मूल्यों में (जीवन, मानव, व्यवहार और वस्तु मूल्य) जीवन मूल्य गुरु मूल्य है। अर्थात जीवन मल्य के अनुभव के पश्चात ही मानव जागृत होता है अथवा बाकि मूल्यों को पूर्ण रूप से अनुभव कर पाता है। मानव, स्थापित, शिष्ट और वस्तु मूल्य लघु मूल्य है यानि कि जीवन मूल्य में यह चारों मूल्य निहित है। अतः लघु मूल्य गुरु मूल्य में निहित है।

स्थापित मूल्य में प्रेम परम (गुरु) मूल्य है और प्रेम में बाकि स्थापित मूल्यों का भाव समाया है। मानव मूल्यों में करुणा सबसे श्रेष्ठ है अर्थात उसमें धीरता, वीरता, उदारता, दया और कृपा समाहित है। यह दिव्य मानव की स्थिति है।

जागृत मानव धीरता, वीरता, उदारता युक्त होता है। देव मानव दया और कृपा युकत होता है और दिव्य मानव दया, कृपा और करुणा युक्त होते हैं। अर्थात दिव्य मानव समाज में सबसे अधिक उपकार की प्रवृत्ति रखते हैं।

इसी प्रकार व्यवहार में स्थापित मूल्य है तो शिश्ट मूल्य का होना स्वाभाविक है। जागृत मानव शिष्टता व्यक्त करता है यानि वह वस्तु में उपयोगिता और कला मूल्य समझता है। वस्तु मूल्य के कला मूल्य में उपयोगिता मूल्य समाया है अर्थात उपयोगिता के बिना कला का कोई प्रयोजन नहीं है। कला उसी वस्तु में है जिसमें कोई उपयोगिता है। अतः स्थापित मूल्य–युक्त होने से ही स्वयं की (और दूसरे की) शिष्टता का मूल्यांकन संभव है। स्वयं शिष्टता में जीने से ही वस्तु की उपयोगिता और कला मूल्य का मूल्यांकन हो पाता है। अतः गुरु मूल्य होने से लघु मल्य का मूल्यांकन संभव है।

गुरु मूल्य–युक्त मानव ही लघु मूल्य–युक्त वस्तु अथवा अजागृत मानव का मूल्यांकन कर पाता है। जागृति क्रम में मूल्यों को पहचानने की क्रिया को मूल्यांकन कहते हैं। इसलिए अनुभव से विचार, विचार से व्यवहार और व्यवहार से व्यवसाय के आयाम का अनुभव संपन्न मानव द्वारा मूल्यांकन संभव हैं दो समझदार व्यक्ति एक–दूसरे का मूल्यांकन करते हैं तो एक–दूसरे के विचार, व्यवहार और व्यवसाय में मूल्यों को आंकतें है। हर स्तर पर निश्चित मूल्यों का निर्वाह होता है तो जागृत मानव एक–दूसरे के मूल्यांकन से तृप्त होते हैं और न्याय का अनुभव करते हैं।

अनुभव संपन्न व्यक्ति ही सभी आयामों का मूल्यांकन कर पाता है। इसी तरह जागृत व्यक्ति ही अजागृत व्यक्ति का मूल्यांकन कर पाता है। सही मूल्यांकन न्यायपूर्वक होता है अर्थात मूल्यांकन क्रिया संबंध स्वीकारने के पश्चात ही संभव है। अन्यथा अजागृत मानव का आपस में मूल्यांकन मूल्य–विहीन होता है यथा केवल एक दूसरे की आलोचना करने के लिए होता है। इसलिए मानव की निरंतर सुख की चाहत की पूर्ति के लिए सह–अस्त्ति्व में अनुभव, संबंधों की पहचान और मूल्यों में प्रमाणित होना आवश्यक है।

अभ्यास व अध्ययन

1. हर मानव की मौलिका क्या है?
2. मूल्य और कीमत में भेद स्पष्ट कीजिए।
3. धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करूणा को स्पष्ट कीजिए।
4. न्याय को स्पष्ट कीजिए।

5. मैं गुरू के साथ जीते समय किन मूल्यों का अनुभव करता/करती हूँ?
6. मैं माता–पिता के साथ जीते समय किन मूल्यों का अनुभव करता/करती हूँ?
7. मैं और मेरा मित्र किस तरह से मूल्यों के आदान–प्रदान में जीते हैं?
8. गुरू मूल्य और लघु मूल्य को उदाहरणों सहित स्पष्ट कीजिए।

पाठ 13

सामाजिक पूरकता

मानवीय शिक्षा मानव के जागृति तक पहुँचने की प्रक्रिया है। शिक्षा में ज्ञान की वस्तु को प्रस्तुत करने के लिए भाषा व लिपि का प्रयोग होता है। भाषा व लिपि मानव को परंपरा से प्राप्त है ही! इसमें वर्तमान में मानव का कोई श्रम नहीं लगा है। साथ ही, भाषा को बोलना, लिखना पढ़ना मानव परिवार में रहते हुए सीखता है। माता–पिता, चाचा–चाची, दादा–दादी और उनके मित्रों के साथ समय बिताकर बच्चा स्वतः भाषा बोलना सीखता है इसी तरह उठना, बैठना, चलना, नहाना, भोजन करना, पानी पीना, व्यायाम करना – ये सभी क्रियाकलाप बच्चा परिवार के सदस्यों को देखते हुए सीखता हैं अर्थात शिशु के विकास में परिवार और परंपरा की अहम् भूमिका है।

इसी प्रकार कई तकनीकी यन्त्र और उपकरण; कई विधाएँ जैसे चित्र, चलचित्र, पुस्तकें, इत्यादि का निर्माण कई मानवों द्वारा लम्बे समय तक श्रम करके हुआ है साथ ही, समय–समय पर इन उपकरणों को परिमार्जित किया गया है ताकि मानव के लिए वह और उपयोगी हो सके। वर्तमान में मानव की अनुकूलता के लिये भूतकाल में अन्य मानवकी भागीदारी पहचानने पर मानव अपनी जागृति में समाज की पूरकता स्वीकार करता है। यह स्वीकृति जागृज मानव में कृतज्ञता के भाव सहित अभिव्यक्त होती है।

मानव के जीने के सभी आयामों में उसे परम्परा से काफी कुछ उपलब्ध है। जैसे विगत में, धरती की मानचित्र रचना पर भी मानव बहुत परिश्रम किया है। कई लोगों ने समुद्र पर यात्रा करके पूरी धरती को घूमने का प्रयास किया। कई ने अपनी पूरी जिन्दगी धरती के आकार को गणितात्मक – विधि से समझने के लिये अर्पित कर दी। इस श्रम से भू–विज्ञान, भूगोल विद्या विकसित हुई है। अतः धरती का मापन उसका मानचित्र, चट्टानों की संरचना, मिट्टी का वर्गीकरण; यह सब जानकारी मानव को वर्तमान में उपलब्ध है। इस जानकारी के तहत मानव ऋतुओं के आंकलन अनुसार कृषि–कार्य तय करता है; हवा–पानी–मिट्टी की पहचान से उपयुक्त आवास–अलंकार बनाता है, कृषि करने की विधि तय करता है, अपना आहार सुनिश्चित करता है,

इत्यादि। इसी तरह, मानव ने श्रमपूर्वक धरती पर उपलब्ध धातु और मणि को पहचानता है। पहचानने के पश्चात मानव ने उनका आवास, यन्त्र और भौतिक वस्तुओं को बनाने में उपयोग किया है।

वर्तमान में मानव के पास हमारी कल्पना से अधिक भौतिक वस्तुओं की जानकारी उपलब्ध है। इस जानकारी के तहत कई भौतिक वस्तुओं को निर्माण संभव हो पाया है। अनंत वस्तुओं व उपकरणों के निर्मित होने के बावजूद मानव में आज भी असमानता का भाव बना हुआ है, अमीरी और गरीबी बनी हुई है, नर–नारी में असमानता बनी हुई हैं अतः ज्ञान अथवा मानव लक्ष्य की समझ के बिना सूचनाओं का मानव के जागृति के अर्थ में सार्थक होना असंभव है। सह–अस्तित्व ज्ञान के आधार पर वस्तुओं का निर्माण होना तथा उपलब्ध जानकारी का उपयोग होना संभव है। अर्थात वस्तुओं का मानव के सह–अस्तित्व के अर्थ में प्रयोजन स्पष्ट होने पर मानव उनका उपयोग–सदुपयोग करने योग्य होता है। इसी ज्ञान की परंपरा में इन सभी जानकारी का सर्वमानव की जागृति के लिए उपयोग–सदुपयोग होता है। अमानवीय परंपरा में इनका मुख्यतः शोषण के लिए, हथियार बनाने के लिए अथवा युद्ध में दुरूपयोग होता है।

मानवीय परंपरा के लिए मानवीय शिक्षा एक अनिवार्यता है। मानव, मानव से सीखता–समझता है। इसी लिए शिक्षक का स्वयं जागृत व प्रमाणित होना आवश्यकता है। जागृत शिक्षक ही शिष्य में मानव–मानव और मानव–प्रकृति के संबंधों की पहचान, वस्तुओं के उपयोग–सदुपयोग की समझ विकसित कर सकता है।

शिक्षा एक सामाजिक कार्यक्रम है जिसमें सभी परिवार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भागीदारी होते हैं। अग्रिम पीढ़ी को शिक्षा उपलब्ध कराना केवल परिवार की व्यक्तिगत जिम्मेदारी नहीं है। शिक्षा शिष्टतापूर्ण दृष्टि के उदय की प्रक्रिया के लिए परिवार से ले कर समाज तक एक अनुकूल वातावरण आवश्यक है। इसी लिए शिक्षा में कई लोगों की भागीदारी रहती है।

शिक्षा की व्यवस्था के लिए :

1. विद्यालय और महाविद्यालय भवन का निर्माण होता है,

2. शिक्षक चुने जाते हैं,

3. पाठ्यक्रम तय होता है,

4. किताबे लिखी जाती हैं,

5. उत्पादन के लिए पर्याप्त जमीन तैयार की जाती है,

6. तकनीकी–ज्ञान और उत्पादन–कार्य में निपुणता, कुशलता के लिए कार्यशाला अथवा प्रयोगशाला निर्मित की जाती है, और

7. बोर्ड, चॉक, पेन्सिल, पेन, कॉपी बनाई जाती हैं।

इन सभी कार्यों में कई लोग अपना श्रम लगाते हैं। जैसे–

1. भवन और प्रयोगशाला के निर्माण के कार्यगरों की भागीदारी होती हैं।

2. किताबें लिखने में शिक्षक और समाज में अन्य श्रेष्ठ व्यक्ति कार्यरत रहते हैं।

3. किताबें छापने के लिए और बोर्ड, पेन, पेंसिल, कॉपी बनाने के लिए मानव कुटीर–उद्योग स्थापित करते हैं।

4. पढ़ाने–समझाने और उत्पादन सिखाने के लिए शिक्षक भागीदारी करते हैं।

5. अभिभावक बच्चे के प्रगति का विशेष रूप से ध्यान रखते हैं और शिक्षक से लगातार संपर्क बनाये रखते हैं।

अतः मानव की शिक्षा के लिए परंपरा और समाज पूरक हैं।

मानव प्रकृति के साथ व्यवसाय, मानव के साथ व्यवहार और स्वयं में विचार और अनुभव सहित जीता है। इन सभी आयामों में जी पाने में समाज की महत्वपूर्ण भागीदारी है। जागृत समाज में शिक्षा की व्यवस्था से मानव की विचारों में स्पष्टता और स्वास्थ्य की व्यवस्था से मानव के समझने और व्यक्त होने योग्य शरीर संभव है। साथ ही, मानवीय शिक्षा से मानव स्वयं जागृत होता है। जागृति सहित वह व्यवहार में समाजिक और व्यवसाय में स्वावलंबी हो पाता है। अर्थात शिक्षा ही व्यवसाय का प्रेरणा स्रोत है अतः समाज मानव के हर आयाम के लिए पूरक है। अखण्ड

समाज और सार्वभौम व्यवस्था पूरकता का ही वैभव है।

अभ्यास व अध्ययन

पाठ–14

उत्सव

अभी तक हमने मुख्यतः पाँच प्रकार के उत्सव के बारे में पढ़ा है :

1. जन्म संस्कारोत्सवः शिशु के जन्म पर उसकी जागृति के शुभ कामना करने का उत्सव।
2. नामकरण संस्कारोत्सवः षिषु के संबोधन के लिए सबकी स्वीकृति से एक उपयुक्त नाम का चयन करने का उत्सव।
3. जन्म दिन संस्कारोत्सवः शिशु का स्व–मूल्यांकन का उत्सव।
4. शिक्षा संस्कारोत्सवः (शिक्षा आरम्भ और शिक्षा संपन्न उत्सव)ः शिशु के जागृति क्रम में शिक्षा आरम्भ करने का उत्सव और युवा की शिक्षा संपन्न होने का अर्थात जागृत होने का उत्सव।
5. विवाह संस्कारोत्सव : समझदार स्त्री और पुरुष के दाम्पत्य जीवन की शुरुआत और उसमें अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था के लिए संकल्पित होने का उत्सव।

इन सभी उत्सव में हमें संबंधों का निर्वाह करने का, संपर्क को संबंध में बदलने का (जैसे कि विवाहोत्सव में वधु और वर के परिवारों के बीच अक्सर होता है), अपने तन, मन और धन का सदुपयोग करने का, अपनी सँस्कृति का प्रदर्शन करने का, अपने से बड़ी व्यवस्था (जैसे कुटुंब, गाँव, समाज) में भागीदार होने का अवसर मिलता है। उत्सवों में हम उत्साह और प्रसन्नता सहित भागीदार होते हैं क्योंकि हम इनका प्रयोजन मानव लक्ष्य के अर्थ में देख पाते हैं। अर्थात समाज में अखंडता और सार्वभौम व्यवस्था के लिए, जागृति की परंपरा को पुष्ट करने के लिए और अग्रिम पीढ़ी के संस्कार बनाने के लिए परिवार, गाँव और समाज में उत्सव होते हैं।

इन पाँच उत्सवों के अतिरिक्त हम प्राकृतिक और व्यवस्थागत उत्सव भी मनाते हैं। इस अध्याय में हम इन दोनों उत्सव पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

प्राकृतिक उत्सव ऋतु–अनुसार होते हैं जैसे वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत, शिशिर ऋतु

उत्सव। व्यवस्थागत उत्सव शिक्षा–संस्कार, स्वास्थ्य–संयम, न्याय–सुरक्षा, उत्पादन–कार्य और विनिमय–कोष समितियों के होते हैं। यह प्रधानतः गाँव या समाज के स्तर पर आयोजित किये जाते हैं। इन उत्सव को उद्देश्य, ऊपर उल्लिखित बिंदुओं के अलावा, सूचनाओं का आदान–प्रदान करना, वस्तुओं का विनिमय होना, उत्पादन या सेवा संबंधित कार्य करना, सामूहिक निर्णय लेना, सफलताओं को अभिव्यक्त करना और अभी तक किये गए कार्यों का मूल्याँकन करना होता है। प्राकृतिक और व्यवस्थागत उत्सव की प्रयोजनीयता अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था को पुष्ट करने में ही स्पष्ट होती है।

पहले पढ़ चुके हैं कि समाज के पाँचों आयामों के लिए अर्थात शिक्षा, स्वास्थ्य, न्याय, उत्पादन और विनिमय के लिए व्यवस्था होना आवश्यक है। इस व्यवस्था का सार्वभौम होना भी समाज में सह–अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए आवश्यक है। इसीलिए व्यवस्थागत उत्सव समाज में सार्वभौम व्यवस्था को बनाये रखने के लिए अनिवार्य है। हर गाँव में इन सभी आयामों की समितियाँ स्थापित होती हैं जिसमें हर परिवार के प्रतिनिधि शामिल होते हैं। इस तरह हर निर्णय में पारिवारिक सहमति निहित है। इन समितियों का वार्षिक उत्सव होता है। जिसमें वह अपनी उपलब्धियों को सबके सामने प्रस्तुत करते हैं और साथ ही, अपने कार्यों का उद्देश्य अनुसार मूल्यांकन करते हैं। इस तरह समाज में उनकी सफलताओं के लिए सब उत्साहित होकर उनकी प्रशंसा करते हैं, उनके कार्यों की समीक्षा से आगे के कार्यक्रमों में सुधार की संभावना बनती है और उनकी भविश्य की योजनाओं से गाँव–समाज आश्वस्त होते हुए उनके प्रति अपनी स्वीकृति व्यक्त करता है। इस आश्वस्ति और प्रसन्नता से समितियाँ अपनी योजनाओं के शुभ आरम्भ के लिए प्रोत्साहित होती हैं।

व्यवस्थागत उत्सव गाँव की समितियों से लेकर विष्व तक की समितियों में होते हैं। इन सभी समितियों में हर परिवार से लेकर हर गाँव का प्रतिनिधित्व रहता है। इन उत्सव में सामूहिक चर्चा, वार्तालाप, मेले, गीत–गायन, कला द्वारा वर्तमान तक के कार्यों का मूल्यांकन और भविष्य योजनाओं की प्रस्तुति गाँव–समाज के साथ होती हैं। इस सँस्कृति के प्रदर्षन से (अर्थात चर्चा, मेले, गीत इत्यादि में) समितियाँ महत्वपूर्ण सूचनाओं का और वस्तुओं का आदान–प्रदान करती हैं। जैसे विद्यालय में कुछ नए शिक्षकों की सूचना, कुछ गाँवों के बीच एक महाविद्यालय की स्थापना की सूचना; शिक्षा–संस्कार समिति वार्षिक उत्सव में प्रस्तुत करती हैं। इसी तरह सड़क बनाने के

निर्णय की सूचना, न्याय–सुरक्षा समति अपने उत्सव में प्रस्तुत करती हैं। इन सूचनाओं के आधार पर गाँव–समाज के सदस्यों को समितियों को आवश्यकता अनुसार अपनी भागीदारी स्पष्ट करने का अवसर मिलता है।

इसी तरह उत्सवों में वस्तुओं का भी आदान–प्रदान होता है। जैसे विनिमय–मेला एक ऐसा उत्सव है जिसमें हर परिवार अपनी आवश्यकता अनुसार उत्पादित वस्तुओं का एक दूसरे के बीच आदान प्रदान करता है। इस उत्सव के लिए विनिमय–कोष समिति पहले से ही परिवारों से उनकी आवश्यकता की सूची लेकर तैयार रखती हैं, आवश्यकता से अधिक उत्पादित वस्तुओं के कोष के लिए एक सामूहिक जगह उपलब्ध कराती है और उपयुक्त वस्तुओं के आदान–प्रदान के लिए उत्सव (मेला) भी आयोजित करती हैं। सबका मिलना, अपनी उत्पादित वस्तुओं का दूसरों के साथ लाभ और हानि से मुक्त विनिमय करना, स्वयं में समृद्धि का अनुभव होना – यह सब इस उत्सव का भाग है।

व्यवस्थागत उत्सव के अतिरिक्त प्राकृतिक उत्सव भी गाँव–समाज में आयोजित होते हैं। ऋतु में परिवर्तन आने पर गाँप–समाज में उत्सव मनाना स्वाभाविक है। ऋतु अनुसार हमारे कृषि कार्य, भोजन, रहन सहन में बदलाव आता है। इस बदलाव पर चर्चा होना, सामूहिक रूप में कुछ कार्य आरम्भ करना, उपयुक्त मुद्दों पर शोध करना; इन उत्सव का उद्देष्य है। अर्थात ऋतु उत्सव में गीत, नृत्य, कला, संवाद, भाषण इत्यादि द्वारा एक दूसरे के साथ ऋतु परिवर्तन के अनुसार महत्वपूर्ण सूचनाओं का आदान–प्रदान करते हैं और कार्य करते हैं।

उदाहरण के लिए ग्रीष्म ऋतु उत्सव में हम शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिए सही आहार और विहार पर चर्चा करते हैं। अर्थात शरीर को ठंडा रखने के लिए भोजन और कपड़ों में जो बदलाव आवश्यक हैं उस पर संवाद करते हैं, लोक गीत गाते हैं, कला द्वारा उसे सबके सामने प्रस्तुत करते हैं। साथ ही, इस उत्सव पर हम गाँव में वातावरण को स्वच्छ बनाये रखने के लिए; सड़क, तालाब, घर का निर्माण कार्य या सफाई करने के लिए; ऋतु संतुलन को बनाये रखने पर शोध के लिए चर्चा, सोच विचार करते हैं। इसी तरह वर्षा ऋतु आरम्भ होने पर गाँव के सभी लोग एकत्रित होते हैं और आपस में अपनी खुशी व्यक्त करते हैं। इस दौरान स्वास्थ्य में सतर्कता बनाये रखने के लिए सही आहार, विहार और औषधि पर जानकारी स्वास्थ्य संयम समिति सबको प्रदान करती है। इसके अलावा कृषि कार्यों और वृक्षारोपण के कार्यक्रम का शुभ आरम्भ करते हैं। हस्त

कला और कुटीर उद्योग में उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन की ओर सबका ध्यानाकर्षण करते हैं। जल सदुपयोग और उसको इकट्ठा करने की योजना पर चर्चा करते हैं। किसी इलाके में बाढ की संभावना होने पर उसके बचाव के लिए न्याय–सुरक्षा समिति प्रबंधन की सूचना देती है।

शरद ऋतु में हम फसल के पोषण–संरक्षण फलन पर उत्सव मनाते हैं। साथ ही, षरद ऋतु में फसलों के संग्रहण का उत्सव, कुटीर उद्योग से उत्पादित वस्तुओ के प्रदर्शन का उत्सव, वृक्षारोपण की सफलता का उत्सव मनाया जाता है। इसके अलावा इस उत्सव पर आगे वन, खनिज, जल की सुरक्षा पर चर्चा होती है, औषधि संबंधित कार्य आरम्भ होते हैं, जल संसाधनों का स्थानीय आवश्यकता अनुसार उपयोग सदुपयोग करने पर गोष्ठी होती है। इस तरह ऋतु अनुसार हर परिवार के दिनचर्या में परिवर्तन आता है। कृषि संबंधित कार्यों में परिवर्तन आता है इत्यादि। साथ ही, हर परिवार कृषि में प्रयोग विधि से शोध करता है और कुछ सफल प्रयोग होने पर उत्सवों में उनका लोकव्यापीकरण करता है। इसलिए प्राकृतिक उत्सव गाँव–समाज का एक महत्वपूर्ण भाग हैं।

व्यवस्था और प्रकृति या ऋतु से संबंधित जानकारी को आपस में गीत, नृत्य, नाटक, कला, चर्चा, गोष्ठी, भाषण द्वारा व्यवस्थागत और प्राकृतिक उत्सवों में एक दूसरे के बीच बतलाते हैं। यह हमारी सँस्कृति का प्रदर्शन है। यह सँस्कृति पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बड़ती है। इस तरह हर उत्सव बच्चों के शिक्षण का एक अवसर हैं। साथ ही, हर पीढ़ी में सँस्कृति में कुछ सुधार होना स्वाभाविक है। इसीलिए उत्सव सबके मिलने का, अपने उत्साह को व्यक्त करने का, संबंधों में मूल्यों का अनुभव करने का एक अवसर होने के साथ साथ सँस्कृति की परंपरा को बनाये रखने का भी एक अवसर है। अतः हर उत्सव एक संस्कारोत्सव है।

अभ्यास व अध्ययन

पाठ–15

मानव इतिहास

मानव इतिहास में एक भाग धार्मिक इतिहास भी है। इसमें विगत से आज तक पनपे एंव प्रचलित धार्मिक विचारों का क्रमबद्ध आंकलन किया जाता है।

धार्मिक इतिहास के मूल में पवित्र धर्म ग्रंथ हैं। सभी धर्मों में ईश्वर, आत्मा, पाप–पुण्य, स्वर्ग–नर्क का वर्णन है। ये ही धर्म के आधार हैं। सभी धर्म 'ईश्वर वाणी' या आकाशवाणी के नाम से विख्यात हैं। धरती के विभिन्न भू–भाग में, भिन्न–भिन्न समय पर महापुरूशों ने ईश्वर वाणी सुनने का दावा किए। उनके अनेक अनुयायी बने। कालांतर में ये धर्म के रूप में पहचाने गए। सभी धर्मों में पाप एवं नर्क से भय तथा स्वर्ग एवं पुण्य के लिए प्रलोभन पैदा करने का प्रयास किया गया। अधिकाँश जनता धर्म के अनुसार आचारण करते रहे। जो धर्म विरुद्ध आचरण किए उन्हे कई प्रकार से प्रताड़ना दी गई जो प्रायश्चित, बहिश्कार आदि के रूप में प्रचलित हुए।

समय के साथ जब एक धर्म को मानने वाले दूसरे धर्म को मानने वालों से मिले तो उन्हें एक दूसरे के आचरण में कई भिन्नता दिखाई दी। किसी एक धर्म की अच्छाई को दूसरे धर्म में बुरा भी पाया गया। इस प्रकार धार्मिक संग्राम प्रारंभ हो गया। यह धार्मिक संघर्ष आज भी पूरे विश्व में किसी न किसी रूप में प्रकट है।

धार्मिक विचारधारा से कुछ महत्वपूर्ण मान्यताएँ समाज में स्थापित हुई जैसे कोई सर्वशक्तिमान सत्ता मानव जीवन एवं उसके कार्यों को नियंत्रित करता है। उसके अनुसार चलने पर सुखी होना एवं विपरीत चलने पर दुखी होना अवश्यंभावी है। कोई शुभ या सर्वशुभ बात, आचरण है जिसे मानना चाहिए। यह भी धार्मिक विचारधारा में स्पष्ट संदेश दिया गया। त्याग, परोपकार, दया, सेवा जैसे कार्यों के लिए समर्थन एंव प्रेरणा दी गई। इन सबके बावजूद धीरे–धीरे धर्म के प्रति आम जनता के आस्था में कमी आई। अनेक लोग इसे अंधविश्वास मानते हैं। धर्म रहित जीने को आध ुनिक एवं श्रेष्ठ माना जा रहा है।

हज़ारो वर्षों की मानव परंपरा में जो भी बदलाव आए हैं उन्हें हमने विभिन्न प्रकार के इतिहास में पढ़ा एवं समझा। हम यह पाते है कि मानव इतिहास के किसी भी काल खण्ड में सुखी, समाधानित एवं तृप्त नहीं था, परंतु सुख, समाधान के लिए प्रयास करता रहा। आज ये प्रयास और भी तेज़ हो गए हैं। चाहने एवं न चाहने के बिन्दुएँ ध्रुवीकरण हो गए हैं अर्थात कौन–कौन सी वस्तुएँ, घटनाएँ या स्थितियाँ नहीं चाहते हैं यह स्पष्ट हुआ है। कौन–कौन सी स्थिति, घटनाओं की कामना है वह भी स्पष्ट हुआ है। उदाहरण के लिए आज प्रत्येक मानव, दूसरे मानव के समान होना चाहिए यह स्वीकार किया गया है। अर्थात प्रत्येक नस्ल के, रंग के, जाति और धर्म के व्यक्तियों में समानता होती है – यह माना जाने लगा है। राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय मंचों में इसके समर्थन में अनेक कार्यक्रम होते हैं। परंतु जीने के क्रम में हम देखते हैं लोगों में ऐसी योग्यता विकसित नहीं है। इसी क्रम में स्त्री एवं पुरुष में समानता होनी चाहिए, परन्तु इसके योग्य अध्ययन, अध्यापन एवं जीने में प्रमाण दिखता नहीं है। लोगों के योग्यता में अभी विकास नहीं हुआ है।

दूसरी बात पूरा विश्व युद्ध नहीं चाहता हैं। इसके लिए अनेक छोटे–छोटे राष्ट्रों के समूह प्रयास करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ नामक सर्व देशों की एक संगठन बना है, जो इसके लिए प्रयास कर रही है। परंतु अभी भी मानव–मानव के बीच भय समाप्त नहीं हुआ है, बढ़ा ही है। इसलिए जीने में युद्ध की तैयारी दिखती है। युद्ध होने पर या युद्ध से बचने के लिए दिनोदिन संहारक आयुध का भंडार बढ़ रहा है।

प्रत्येक मानव पर्यावरण के महत्व को पहचानने लगा है। शुद्ध जल, शुद्ध वायु, शुद्ध भोजन के लिए लोगों में अपेक्षाएँ बढ़ी हैं। इन सबके बावजूद प्रदूषण दिनों–दिन बढ़ रहा है। जीने के लिए अनिवार्य नैसर्गिक स्रोत प्रदूषित हो गए हैं। प्रदूषण हर स्तर पर बढ़ता ही जा रहा है। सही ढंग से जीने की शिक्षा पर बुद्धिजीवी सहमत नहीं हो पा रहे हैं। वर्तमान शिक्षा से पर्यावरण के पूरक होकर जीने की समझ एंव शारीरिक अभ्यास नहीं बन रहे हैं।

प्रत्येक मनुष्य ग्राम से विश्व व्यवस्था में भागीदारी करने की मानसिकता बना चुका है। परन्तु इसकी योग्यता विकसित नहीं हो रही है। दण्ड देना शासन एवं शिक्षाविदों के अनुसार कारगर नहीं माना जा रहा है। प्रलोभन से भी व्यवस्था में भागीदारी का उपाय नहीं दिखता है। शासन मनुष्य को स्वीकार नहीं है, व्यवस्था में जीना स्पष्ट नहीं है, न ही योग्यता है।

अपने–पराए की दीवार से मानव त्रस्त हो चुका है परन्तु अभी तक मानव–मानव के बीच अपनापन शिक्षा में नहीं आया, नहीं जीने में आया।

प्रत्येक मनुष्य अभाव रहित होकर जीना चाहता है, यह बात प्रत्येक भू–भाग में स्पष्टतः दिखाई देता है। साधनों की विपुलता के बाद भी समृद्धि का प्रमाण दिखता नहीं है, न ही शिक्षा में, न ही आचरण में।

भय, प्रलोभन एवं आस्था से मानव नियंत्रित नहीं होता यह सर्वमानव को स्वीकार होने लगा है परन्तु स्व नियंत्रित होकर जीना स्पष्ट नहीं है।

प्रत्येक मानव में स्वतंत्रता की चाहत बलवती हो गई है। स्वतंत्रता पूर्वक जीने के सारे प्रयास मानव विरोधी एवं पर्यावरण विरोधी हो गए हैं। इसके लिए दिशा की खोज में मानव लगा है।

अभ्यास व अध्ययन

पाठ–16

मानवीय व्यवस्था

मानवीय व्यवस्था स्वानुशासन से ही व्यक्त होती है। प्रत्येक मनुष्य या अधिकांश मानव स्वानुशासित होने पर ही मानवीय व्यवस्था साकार रहती है। उसमें जो व्यक्ति स्वानुशासित नहीं रहते, वे स्वानुशासन के पक्षधर रहते हैं। स्वयं स्वानुशासन को पाना चाहते हैं। इस हेतु अध्ययन करते है एवं स्वानुशासित व्यक्तियों का अनुकरण–अनुसरण करते हैं, उनका मार्गदर्शन लेते हैं।

स्वानुशासन का अर्थ है स्वयं–स्फूर्त व्यवस्था गति। अर्थात प्रमाणिकता, समाधान, न्याय, नियम पूर्वक सभी आयामों में स्वयं–स्फूर्त जीना। दूसरी भाषा में समझदारी, ईमानदारी, ज़िम्मेदारी एवं भागीदारी पूर्वक जीना स्वानुशासन है। अर्थात समझदारी के अनुसार या समझदारी के लिए ईमानदार होना। नासमझी के प्रति ईमानदार होना स्वयं संकट का कारण है – यही अव्यवस्था है।

समझदार होना मानव की पहली आवश्यकता है। प्रत्येक समझदार व्यक्ति की कुछ अनिवार्य स्वीकृति होती है। ये निम्न हैं :

1. अस्तित्व स्वयं व्यवस्था है, यह सह–अस्तित्व के रूप में हैं।
2. अस्तित्व में प्रत्येक इकाई का आचरण निश्चित है, यही उसके व्यवस्था होने का प्रमाण है। मानव का आचरण निश्चित होना ही मानव की व्यवस्था है। मानव कर्म करने में स्वतंत्र एवं फल भोगने में परतंत्र होने के कारण गलती भी कर सकता है एवं सही कार्य–व्यवहार भी कर सकता है। परन्तु मनुष्येतर तीन अवस्थाएँ कर्म स्वतंत्र नहीं हैं।

प्रत्येक मानव में कल्पनाशीलता एवं कर्म स्वत्रंता होती है। कल्पनाशीलता का तृप्ति बिन्दु प्राप्त होना समाधान कहलाता है। समाधान होने पर ही मानव व्यवस्था में जीता है। इसके पूर्व कल्पनाशीलता के तृप्ति के लिए अध्ययन में प्रवृत्त होता है।

मानव में निहित कल्पनाशीलता को नष्ट नहीं किया जा सकता। यह मानव की मौलिकता है।

इसलिए दवाब पूर्वक मनुष्य से अधिक समय तक कोई भी कार्य एवं व्यवहार कराया नहीं जा सकता। दवाब पूर्वक कार्य कराना शासन कहलाता है। कोई भी मनुष्य स्वयं पर शासन (दबाव) स्वीकारता नहीं है। अतः शासन व्यवस्था नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति शासन मुक्त होकर व्यवस्था में जीना चाहता है। स्वयं–स्फूर्त विधि से व्यवस्था में जीना ही स्वानुशासन है।

कई बार मानव को प्रलोभन देकर कार्य–व्यवहार कराया जाता है। यह भी दीर्घकालीन कार्यक्रम नहीं बनता क्योंकि प्रलोभन का तृप्ति बिन्दु नहीं होता यह बढ़ता ही जाता है। यही असंतोष है जो द्रोह–विद्रोह का कारण बनता है ।

भय और प्रलोभन दोनों शासन है। यह जीव चेतना है। जीव चेतना का अर्थ मनुष्य को जीवों की तरह वंशानुषंगी मानना है। अर्थात मनुष्य शरीर और शरीर से प्राप्त संकेतों के अनुसार जीता है। इन संवेदनाओं की तृप्ति के लिए जीता है। इसी कारण शरीर को पीड़ित करने का एवं संवेदनाओं से सुखी करने का कार्यक्रम बनाया जाता है। यही क्रम से भय एवं प्रलोभन कहलाता है। यही जीव चेतना है।

जीव चेतना से मानव चेतना में संक्रमित होना ही मानव की जागृति है। मानव चेतना का अर्थ है सह–अस्तित्व में जीना, चारों आवस्थाओं के साथ पूरकता को प्रमाणित करते हुए जीना एवं मानव के साथ मूल्य एवं मूल्यांकन पूर्वक जीना।

मानव चेतना में जागृत होना ही समझदारी है। समझदारी के प्रति ईमानदारी होने का अर्थ है व्यवस्था में जीने की स्वीकृति होना, स्वयं व्यवस्था का स्रोत होना। इस प्रकार की स्वीकृति सहित जीने की योजना बनाना ही ज़िम्मेदारी है। परिवार व्यवस्था में स्वयं की पूरकता को पहचानना ज़िम्मेदारी है। परिवार समूह व्यवस्था में स्वयं की पूरकता पहचानना ज़िम्मेदारी है। व्यवस्था के पाँचो आयामों में स्वयं की पूरकता को पहचानना ज़िम्मेदारी है।

ज़िम्मेदारी होने के बाद ही भागीदारी करना होता है। भागीदारी के मुख्यतः 2 भाग है – पहला भाग है संरचना या ढांचे में भागीदारी। जैसे परिवार व्यवस्था में 3 आयाम में कार्य–व्यवहार होता है। परिवार का प्रतिनिधि परिवार समूह व्यवस्था में भागीदारी करता है। ये आगे पाँचों समिति एवं ग्राम/मुहल्ला सभा में भागीदारी करते हैं। ये संरचना है – व्यवस्था को व्यक्त करने के लिए। संरचना सम्पूर्ण व्यवस्था नहीं है, व्यवस्था को व्यक्त करने के लिए संरचना एक भाग है। वर्तमान

में विश्वास ही व्यवस्था है। परस्पर पूरकता सहित जीना ही व्यवस्था है।

व्यवस्था का दूसरा भाग है प्रबंधन एवं श्रम। किसी भी उत्पादन–विनिमय कार्य में या व्यवहार में प्रबंधन एक भाग होता है। जैसे – विद्यालय के वार्षिक उत्सव में अनेक अतिथि आति हैं, उनके बैठने का एक स्थान निश्चित किया जाता है। एक मंच बनाया जाता है। जो सामान्यतः कुछ ऊँचा स्थान होता है ताकि अन्य लोग उसे देख सके। उस स्थान पर खड़े होकर बोलने से वक्ता को सब लोग ठीक से देख सकते हैं। वक्ता की आवाज़ दूर तक पहुँचने के लिए ध्वनि विस्तारक यंत्र (लाउडस्पीकर) का प्रयोग किया जाता है। अतिथियों के लिए जलपान या भोजन बनाया जाता है, एक निश्चित स्थान पर बैठकर भोजन किया जाता है। चलने के लिए अलग रास्ते निश्चित किए जाते हैं। उन सबको सम्मिलित रूप में प्रबंधन कहा जाता है। प्रबंधन व्यवस्था का एक भाग होता है। प्रबंधन सम्पूर्ण व्यवस्था नहीं है।

उपरोक्त कार्यों को पूरा करना श्रम कहलाता है। अभ्यास द्वारा श्रम एवं प्रबंधन की योग्यता विकसित होती है।

परिवार व्यवस्था से विश्व परिवार व्यवस्था तक श्रम एवं प्रबंधन कार्य बने ही रहते है।

विद्यार्थी या अध्ययन काल में सभी व्यक्ति स्वानुशासन को समझते हैं, स्वीकारते हैं एवं इसे पाना चाहते हैं। यही अनुशासन कहलाता है। यह अनुसरण एवं अनुकरण पूर्वक सफल होता है।

शैशव अवस्था में समझदार व्यक्ति के अनुकरण–अनुसरण के साथ आज्ञापालन प्रधान रूप में रहता है। आयु वृद्धि के साथ क्रमशः अनुसरण, अनुकरण एवं स्वानुशासन की अपेक्षा मानवीय व्यवस्था में बनी रहती हैं। यह प्रमाणित होना ही मानवीय व्यवस्था है।

अभ्यास व अध्ययन

1. स्वानुशासन को स्पष्ट कीजिए।
2. समझदारी, ईमानदारी, ज़िम्मेदारी, भागीदारी को स्पष्ट कीजिए।
3. व्यवस्था के दो भागों को स्पष्ट कीजिए।

पाठ –17

शिक्षा–संस्कार

समस्त जीव जानवर, पशु पक्षी, वंशानुशंगी हैं और ये शरीर के आधार पर जीते हैं। उनकी शरीरगत आवश्कताएँ ही उनकी संपूर्ण आवश्यकताएॅ हैं और उनका पूरा आचरण इसी तथ्य से निर्धारित होता है। इसको हम जाँच सकते हैं और अपने सहज परिवेश में देख सकते हैं। जीव जानवर की शरीर के अर्थ में आवश्यकताएँ उनका आहार, उनके समुदाय या झुण्ड में रहना, अपने शरीर वंश परंपरा को बनाये रखने के लिए मैथुन इत्यादि हैं। अपने शरीर को बनाये रखना, अपने वंश परंपरा को बनाये रखना यह उनकी जीने की आशा के रूप में स्पशट होता है। इससे अधिक किसी भी जीव जानवर का क्रियाकलाप नहीं होता है। अपने शरीर की आवश्कयताओं को पहचानना हर जीव में वंशानुशंगी क्रम से आता है। और यह उनके आचरण का सबसे प्रभावी तथ्य होता है – जैसे गाय का बच्चा, किसी भी तरह के वातावरण में रहते हुए गाय के आचरण को ही स्वीकारता है। वह घास, फूल, पत्ती आदि को भोजन के रूप में स्वयं स्फूर्त पहचानता है और सोने, बैठने, खड़े रहने, झुण्ड को पहचानने और अपनी क्रूर–अक्रूर स्वभाव में हर प्रकार से गाय के आचरण तक ही सीमित रहता है। वातावरण के प्रभाव को समझना, स्वीकार–अस्वीकार इत्यादि कर अपना आचरण बदलना यह जीव जानवर के साथ प्रमाणित नहीं होता है। इस प्रकार शरीरगत आवश्यकताएँ और वंशानुशंगी क्रम यह दोनों तथ्य सभी जीव–जानवर के साथ देख सकते हैं।

ज्ञानावस्था में मानव जीव–जानवर से बहुत भिन्न हैं। मानव अपने शरीर की आवश्यकताओं के साथ–साथ जीवन की आवश्यकताओं को भी समझते हैं और पहचानते हैं। समझना हमारी प्रमुख आवश्यकता है और इसके लिए संबंध में जीना और संबंध के निर्वाह के लिए शरीर की आवश्यकता और शरीर के लिए वस्तु की आवश्यकता इस क्रम में हम अपनी आवश्यकताओं को समझते हैं और पहचानते हैं। यह मानव की आवश्यकता है। इस तथ्य को पहचानने के लिए हम स्वयं को जाँच सकते हैं। शरीर की आवश्यकता जैसे खाना, पीना, घर, गाड़ी, सैर या व्यायाम आदि करके मानव पूरी तरह तृप्त नहीं हो पाते हैं । मानव अपने माता पिता, भाई बहन, मित्र,

सहयोगी आदि जन के भी सुखी होने के लिए कामना करते हैं और उनके सुखी–दुखी होने पर उससे प्रभावित होते हैं। मानव के संबंधी सुखी रहें यह उसकी आवश्यकता है। इसके साथ साथ सभी मानव जीने का लक्ष्य को जानना चाहते हैं। लक्ष्यविहीन जीना मानव कों परेशान करता है। और अपने लक्ष्य को सभी मानव पहचानने की कोशिश करते हैं। लक्ष्य के साथ साथ सभी मानव, सही आचरण क्या है, अपने जीवन में सही फल परिणाम कैसे मिले आदि प्रश्नों के भी उत्तर जानने की चाह रखते हैं। यह जीव जानवर से बिलकुल ही भिन्न है। आवश्यकताओं के साथ साथ मानव संस्कार–अनुशंगी होते हैं। वंशानुषंगी नहीं। अपने समझने के आधार पर आचरण करना ही संस्कार अनुषंगिता है। मानव का शरीर तो वंश परंपरा के अनुसार होता है परन्तु उसका कल्पनाशीलता, उसका व्यवहार, वह क्या काम करता है, कैसे करता है, उसकी योग्यता, पात्रता इत्यादि यह सभी उसकी समझ पर निर्भर करता है, उसके शरीर पर नहीं। यह तथ्य ही हम मानव के जीवन में शिक्षा–संस्कार की महत्ता को स्पश्ट करता है।

सभी मानव का शिक्षा–संस्कार परिवार में प्रारंभ होता है। अपने माता–पिता और परिवार–जन के साथ जीते हुए शिशु वास्तविकताओं को समझते हैं, सीखते हैं और करते हैं और अपनी योग्यता और पात्रता को विकसित करते हैं। करने के अर्थ में चलते हैं, उठते बैठते हैं, खाना–पीना, बातचीत करते हैं इत्यादि। यह स्वाभाविक रूप से सभी शिशु अपने परिवार में करना शुरू कर देते हैं। सीखने के अर्थ में हम परिवारजन के पास जो सहज और स्वाभाविक हुनर है उन्हें सीखते हैं जैसे स्वास्थ्यवर्धक भोजन बनाना, कृषि करना, जीव जानवरों को पालना, वस्त्र सिलना, घर की मरम्मत करना, गाड़ी चलाना इत्यादि। इसके लिए अभ्यास आवश्यक है। इसके साथ साथ समझने के अर्थ में शिक्षा भी शुरू हो जाती है और हर कार्य और व्यवहार के प्रयोजन को भी शिशु समझने लगते हैं। कैसा खाना–पीना अच्छा होता है, सेवा का क्या अर्थ है, कृषि करने की सही प्रक्रिया क्या है, कर्त्तव्य का और दायित्व क्या है, जीव जानवर की क्या आवश्यकता है। यह सभी कुछ समझने के अर्थ में हैं। किसी भी क्रिया के पीछे उसके नियम को समझते हैं, क्रिया का अन्य वास्तविकताओं के साथ संबंध को समझते हैं इस प्रकार समझना, सीखना और करना सभी मानव अपने जीवन में निरंतर करते हैं। साथ ही संबंधों में जैसे भाई–बहन, माता–पिता, मित्र, सहयोगी आदि के कार्यों में सहयोग करते हैं, जो सीखा है वह उन्हें सीखाने के लिए भी तत्पर होते हैं और जो नियम, प्रयोजन, संबंध समझ में आयें हैं उन्हें भी दूसरे तक संप्रेशित करना चाहते हैं।

परिवार से शुरू हुई हमारी शिक्षा–संस्कार की प्रक्रिया, विद्यालय में अपने गुरुजन के साथ और गति प्राप्त करती है। जीने का फैलाव क्रम से स्पश्ट होता है। समाज क्या है, कैसे है, इसमें संबंध कैसे हैं, इसमें प्रत्येक मानव की भागीदारी कहाँ सार्थक है; प्रकृति क्या है, इसका विस्तार कहाँ तक है; प्रकृति की ऊर्जा कहाँ से हैं, मानव क्या है, मानव का आचरण क्या है इत्यादि नई जिज्ञासाएँ हमें स्वयं में पहचान आने लगती हैं और हमारे गुरुजन जो इन तथ्यों को समझते हैं वह हमें संबंधपूर्वक समझाते हैं। संपूर्णता अर्थात हमारी पूरे समझना ही मानव लक्ष्य है। नियम की समझ, लक्ष्य या प्रयोजन, और संबंध की समझ संपूर्णता में ही स्वीकार होते हैं। इस प्रकार से समझे हुए नियम, प्रयोजन, और संबंध सावभौम और सर्वकालीन होते हैं अर्थात हर जगह और हर समय पर सही होते हैं। यह समझने की मुख्य वस्तु है। यह समझाना हमारे गुरुजन का मुख्य उद्देश्य है। इसको हम विद्या कहते हैं इसको समझने और समझाने की जगह को हम विद्यालय कहते हैं। समझना ही शिक्षा–संस्कार की मुख्य वस्तु है।

नियम, प्रयोजन और संबंध को समझने के साथ शिशु का – सीखना और करना को दिशा सा मिलती है। इस प्रकार समझने से ही दिशा है। इसके साथ–साथ संपूर्णता को समझने से सीखना और करना दोनों ही बहुत प्रखर और सार्थक हो जाता है। हर कार्य और व्यवहार को अच्छे से और पूरे फल परिणाम को समझते हुए करते हैं। इससे स्वयं पर विश्वास होता है और यही विद्यार्जन की सफलता है। गुरुजन इस विश्वास का प्रमाण है। वे संपूर्णता को समझते हुए अपने हर कार्य और व्यवहार करते हैं और यह उनके आचरण में हमें स्पश्ट प्रतीत होता है और हम विद्यार्थी उनकी श्रेश्ठता को स्वीकारते हैं।

सह–अस्तित्व का नियम ही संपूर्ण अस्तित्व का नियम है, मानव के रूप में लक्ष्य – समाधान, समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व है । अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था ही हमारे संपूर्ण संबंध ा का स्वरूप हैं, इन तथ्य की व्याख्या शिक्षा की मुख्य वस्तु है। विद्यार्थी जैसे–जैसे इस तथ्य को समझने लगते हैं, उतने स्वरूप में उसे स्वीकारने भी लगते हैं और जीने में यह व्यक्त होने लगता है। इस समझ के साथ जीने का संकल्प ही संस्कार है अन्यथा इन तथ्य के लिए सिर्फ सहमति बनती है, स्वीकृति नहीं। शिक्षा और संस्कार, यह दोनों अविभाज्य वास्तविकताएँ हैं। जो शिक्षा मानव जीवन के लिए सार्थक नहीं होती उससे शिक्षा कहना सही नहीं होता है । इस प्रकार समझने और जीना एक सूत्र हैं और इसी एकसूत्रता को हम शिक्षा–संस्कार कहते हैं।

सह–अस्तित्व के नियम, समाधान, समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व के प्रयोजन और अखंड समाज, सर्वभौम व्यवस्था के रूप में शिक्षा विद्यार्थी को, सर्व मानव और संपूर्ण प्रकृति के साथ जीने के योग्य बनाती है। सबके साथ सह–अस्तित्व पूर्वक जीने में कम, ज़्यादा नहीं होता है। अखंड समाज में भी कोई कम या ज़्यादा संबंध नहीं है। यह सामान्यः है। विशेष होना, अर्थात दूसरो से कम या ज्यादा होना, असामान्य है। सभी सामान्य को स्वीकारते हैं इसलिए शिक्षा–संस्कार में स्पर्धा नहीं हैं, विशेषता का दबाव नहीं है। विद्यार्थी एक दूसरे के साथ मिलकर सहयोग पूर्वक शिक्षा की वस्तु को अपने गुरुजन से ग्रहण करते हैं और इससे अपने जीने में प्रमाणित कर आने वाले मानव पीढी के लिए सहज उपलब्ध कराते हैं। यह मानव परम्परा है और यह हमारा लक्ष्य है। यह हमारे जीवन की सफलता है और शिक्षा–संस्कार की उपलब्धि।

अभ्यास व अध्ययन

पाठ –18

दृष्टा कर्ता भोक्ता

हम यह पहले समझ चुके हैं कि अस्तित्व में दो प्रकार की इकाईयाँ हैं – जड़ इकाई और चैतन्य इकाई। प्रकृति में यह दोनों प्रकार की इकाइयाँ चार अवस्थाओं में हैं – पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था, जीव अवस्था व ज्ञान अवस्था। हम यह भी देखते हैं कि हर इकाई निरंतर क्रियाशील है। जैसे धरती और अन्य ग्रहों का निरंतर घूमना; सूर्य का प्रकाशमान रहना; मिट्टी, पत्थर, धातु में संगठन–विघटन होना; पेड़–पौधों का बढ़ना, फलना व फूलना और फिर विरचित हो जाना; जीव–शरीर में वृद्धि, प्रजनन क्रिया होना और जीव–शरीर का मृत हो जाना। अर्थात् अस्तित्व की तीनों अवस्थाओं में निरंतर क्रिया हैं। ज्ञान अवस्था में मानव षरीर में हृदय और रक्त संचार, श्रवसन क्रिया इत्यादि से षरीर का निरंतर क्रियाशील होना स्पष्ट होता है। साथ ही, मानव में चैतन्य इकाई अथवा जीवन भी निरंतर क्रियाशील है जैसे जीवन निरंतर विचार करता है।

इकाइयों का निरंतर क्रियाशील होने से इकाइयों का स्वयं में व्यवस्थित होना और अपने से बड़ी व्यवस्था में भागीदार होना स्वाभाविक है। संपूर्ण प्रकृति (चारों अवस्थाएँ) में हम देखते हैं कि इकाइयों का सत्ता (अथवा ऊर्जा) में संपृक्त होने से इकाइयाँ स्वयं स्फूर्त क्रियाशील हैं। इसी कारणवश जड़ इकाईयों में पहचानने व निर्वाह करने की क्रिया होती है और चैतन्य इकाई में पहचानने, निर्वाह करने के साथ जानने व मानने की क्रिया ।

चैतन्य इकाइयों में जैसा कि हमने पहले पढ़ा है कि न्यूनतम मानने की क्रिया सक्रिय होती है और चैतन्य (जीवन) में मानने के आधार पर शरीर सहित पहचानना व निर्वाह करना होता है। ज्ञान अवस्था अथवा मानव में हम यह स्पष्ट रूप से देखते हैं कि मानव केवल शरीर को बनाये रखने के अर्थ में सुखी नहीं होता है अपितु, निरंतर सुखी रहना चाहता है। अतः मानव में मानने के साथ–साथ जानने की क्रिया होती है। मानव जानकर, मानकर पहचानता और निर्वाह करता है।

यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि हम संपूर्ण अस्तित्व की चर्चा कर रहे हैं। हम चर्चा इस कारण

कर पा रहे हैं क्योंकि हम अस्तित्व को देख पाते हैं। देखने का अर्थ केवल आँखों से देखने तक सीमित नहीं है। आँखो से किसी भी इकाई का केवल रूप दिखता है और वह भी आंशिक रूप दिखता है अर्थात उसका आकार, आयतन और घन का कुछ भाग दिखता है। देखने का अर्थ है कि इकाई के रूप के साथ–साथ उसके गुण, स्वभाव व धर्म को समझना। देखने का तात्पर्य समझने से है। सम्पूर्ण अस्तित्व की इकाइयों का परस्परता में प्रभाव, उनका अस्तित्व में प्रयोजन अथवा भागीदारी और उनका इकाईत्व अथवा उनकी व्यवस्था की होती हैं।

अस्तित्व ही देखने व समझने की वस्तु है। इसीलिए संपूर्ण अस्तित्व ही दृश्य हैं। अस्तित्व को समझने वाली इकाई जीवन है और ज्ञान अवस्था में जीवन के जागृत होने की पूरी संभावना है। मानव ही दृश्य के दृष्टा है। जागृत मानव समझकर जीते हैं और जीकर ही अपनी समझ प्रमाणित करते हैं और सुखी होते हैं। अस्तित्व में चारों अवस्थाओं के अंतर्संबंधों व प्रयोजनशीलता को समझना व सत्ता में अनुभूत होना, यही अस्तित्व का दृष्टा होना हैं। साथ मानव ही जीवन के भी दृष्टा हैं। जागृत मानव दृष्टा पद में चारों अवस्थाओं के साथ संबंधपूर्वक जीते हैं और इसलिए दृष्टा के साथ–साथ करने वाली इकाई भी हैं। संबंध में जीने से तृप्ति का अनुभव मानव करते हैं और इसलिए मानव दृष्टा कर्ता के साथ–साथ भोगने वाली इकाई भी हैं। मानव दृष्टा होने पर ही कर्ता और भोक्ता हैं।

प्रकृति (पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था और जीव अवस्था) में स्वयं स्फूर्त क्रियाएँ हो रही हैं और हम स्वयं ही दृष्टा, कर्ता व भोक्ता हैं दृष्टि, विषय और स्वभाव से मानव की प्रवृत्ति तय होती है। दृष्टि ही किसी भी वस्तु (वास्तविकता) को मूल्यांकन करने का आधार है; विषय वरीयता को इंगित करता है अर्थात सुख के स्त्रोत इंगित करता है और स्वभाव स्वीकार्य मूल्यों का संकेत है। प्रवृत्ति के अनुरूप अमानवीय, मानवीय व अतिमानवीय व्यवस्था बनती है। जैसे दृष्टि होती है, वैसे ही स्वभाव और विषय होता है और इसके आधार पर अमानवीय, मानवीय या अतिमानवीय व्यवस्था प्रमाणित होती है। पूरे अस्तित्व में मानव ही स्वयं से लेकर अस्तित्व का अध्ययन करते हैं अथवा कर सकते हैं। मानव अध्ययनपूर्वक स्वयं व पूरे अस्तित्व का दृष्टा बनता है। इससे अनुभव के लिए अर्थात सम्पूर्ण समझ के लिए अध्ययन की आवश्यकता भी स्पष्ट होती है।

इकाई की क्रियाशीलता अपने में एक व्यवस्था बने रहने व अपनी से बड़ी व्यवस्था में भागीदार होने से स्पष्ट होती है। इसे जड़ व चैतन्य इकाई दोनों में देखते हैं। जड़ इकाई गठनशील परमाणु

के रूप में हैं और चैतन्य इकाई गठनपूर्ण परमाणु के रूप में हैं। अस्तित्व में विकास गठनपूर्ण से परिभाषित होता है। इससे पूर्व की स्थिति को विकास क्रम कहते हैं। एक गठनपूर्ण परमाणु अथवा जीवन के क्रियापूर्ण होना जागृति हैं और आचरणपूर्ण होने से जागृतिपूर्णता हैं। क्रियापूर्णता जीवन की दसों क्रिया के सक्रिय होने की स्थिति को कहते हैं अर्थात अनुभव की स्थिति ही क्रियापूर्णता है। अनुभव व जागृति की स्थिति का फल–परिणाम मानवीय व्यवस्था है। आचरणपूर्णता मानव के मानवीयतापूर्ण आचरण में से के लिए जीने को कहते हैं अर्थात अनुभव को पूर्ण रूप से प्रमाणित करने की स्थिति को आचरणपूर्णता कहते हैं जिसका फल परिणाम अतिमानवीय व्यवस्था है।

हर इकाई का सत्ता में संपृक्त होने से उसकी निरंतर क्रियाशीलता की एक निश्चित दिशा भी है अर्थात हर इकाई में विकास क्रम विकास और जागृति क्रम, जागृति की दिशा निहित है। विकास क्रम, विकास व जागृति क्रम, जागृति चार पदों में हैं –

1. प्राण पद चक्र (पदार्थ अवस्था – प्राण अवस्था)
2. भ्रांत पद चक्र (जीव अवस्था – भ्रमित ज्ञान अवस्था)
3. देव पद चक्र(मानव – देव मानव)
4. दिव्य पद (पद मुक्ति)

प्राण पद

पदार्थावस्था की इकाई अर्थात गठनशील परमाणु में गठनशील परमाणु के अंशों के संख्याभेद व उनकी दूरी से परमाणुओं की विभिन्न प्रजातियाँ बनती हैं जैसे लोहा, ताम्बा, सोना, चाँदी, आक्सीजन आदि। पदार्थों में विभिन्न भौतिक व रासायनिक क्रियाओं से अन्य पदार्थ, मिश्रण, आदि बनते हैं और इन्हें हमारे आस पास देख सकते हैं जैसे पानी, कुसी, टेबल, कागज इत्यादि। इसी क्रम में रासयानिक क्रियाओं के फल परिणाम से प्राणकोशिका का निर्माण होता है। जिसमें श्वसन–प्रश्वसन व वृद्धि दिखती है। बीज, प्राण अवस्था की इकाई, में प्राणकोशिका है जिसमें प्राण व रचना सूत्र है। एक निश्चित ताप, दाब में बीज अंकुरित हो कर एक पौधा बनता है जो प्राण अवस्था का ही भाग है। कुछ समय बाद वह पेड़ विरचित होकर मिट्टी में गल जाता है और पदार्थावस्था की इकाई बन जाता है। गठनशील परमाणुओं का पदार्थ अवस्था से प्राण अवस्था

(विकास) व प्राण अवस्था से वापिस पदार्थ अवस्था में आना प्राण पद चक्र हैं।

भ्रांत पद

जीव अवस्था में जीवन भ्रमित अवस्था में है। वह स्वयं को शरीर मानता है और शरीर को जीवित रखने के लिए अपना सारा क्रियाकलाप करता है। शरीर को बनाये रखने व अपने वंश को बढ़ाने के अर्थ में, जीव अवस्था की इकाई में जीने की आशा स्पष्ट होती है। जीव अवस्था में पशु –पक्षी चार विषयों में जीते हैं – आहार, निद्रा, भय और मैथुन।

इसी तरह भ्रमित स्थिति में मानव स्वयं को शरीर माने रहता है व उस दृष्टि से शरीर चलता है। भ्रमित स्थिति में मानव अमानवीय क्रियाकलाप करता है और अमानवीय व्यवस्था में भागीदार होता है। इसमें दो श्रेणी के मानव हैं – पशु मानव व राक्षस मानव।

पशु मानव की दृष्टि प्रिय, हित, लाभ में सीमित होती है; उसका विषय आहार, निद्रा, भय, मैथुन होता है व उसका स्वभाव दीनता प्रधान, हीनता व क्रूरता होता है। अर्थात पशु मानव मुख्यतः अपनी संवेदनाओं से संचालित होता है और इसीलिए वह अपनी भ्रमित आशाओं (आस्वादन और चयन क्रिया) के बाध्य होता है। पशु मानव दीनतावश अपनी स्थिति के लिए दूसरे को ज़िम्मेदार ठहरता है और स्वयं शोषित महसूस करता है। वह अपने अधिकार पर नहीं बल्कि दूसरों के जीने के आध ाार पर अपनी सोच बनाता है। इस दीन स्थिति का फल अमानवीय व्यवस्था ही होता है। इसी तरह राक्षस मानव की दृष्टि भी प्रिय, हित व लाभ की होती है, उसके विषय आहार, निद्रा, भय व मैथुन होते हैं व उसका स्वभाव क्रूरता प्रधान, हीनता व दीनता होता है। अर्थात अपने विचारों और अपनी इच्छा (चाहनाओं) को क्रियान्वित करने के लिए राक्षस मानव दूसरे के साथ हीनतावश विश्वासघात करता है और दूसरे का शोषण करता है, और क्रूरतावश उसके प्रति हिंसा भी करता है। यही भ्रांत अथवा भ्रमित मानव और अमानवीय व्यवस्था का द्योतक है।

जीवन का जीवावस्था से भ्रमित ज्ञानावस्था में जाना विकास की स्थिति है और जीवन का भ्रमित मानव से जीवावस्था में जाना ह्रास की स्थिति है। इस विकास और ह्रास को भ्राँत पद चक्र कहते हैं।

देव पद चक्र

मानव पद में सभी मानव जागृत होते है अर्थात अस्तित्व में सह–अस्तित्व के नियम का अनुभव करते हैं। सह–अस्तित्व को समझते हैं इसीलिए मानव के साथ न्याय, संपूर्ण प्रकृति के साथ धर्म और अस्तित्व के साथ सत्यपूर्वक जीते हैं। मानव पद में दृष्टि न्याय–प्रधान होती है अर्थात हम संबंधों में मूल्यों को अनुभव करते हैं और तृप्त होते हैं। न्यायपूर्ण आचरण से परस्परता में धीर, वीर व उदार होना स्वाभाविक है। जागृत मानव अस्तित्व के नियम को समझते हुए निष्ठापूर्वक अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था के लिए जीते हैं और दूसरों के अमानवीय व्यवहार से विचलित न होकर दूसरों के समझने के लिए प्रेरक होते हैं, यह धीरता है। दूसरे को अपने प्रयास से समझाना वीरता है और दूसरे को समझाने के लिए अपना तन, मन और धन अर्पित करना उदारता है। अतः धीरता, वीरता, उदारता मानव का (मानव पद में) स्वभाव है और यह व्यवस्था में भागीदारी है। न्याय प्रधान दृष्टि से धीरता, वीरता उदारता के भाव से जीना और वित्तेषणा, पुत्रेषणा, लोकेषणा की वरीयता होना, मानव की प्रवृत्ति को इंगित करता है। मानव की प्रवृत्ति का फल परिणाम मानवीय व्यवस्था ही है।

मानव पद में तृप्ति के स्रोत वित्तैषणा, पुत्रैषणा एवं लोकैषणा है। परिवार व्यवस्था में जीना ही सुख का स्रोत समझना एवं इसके लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने की प्रवृत्ति धन–बल कामना या वित्तेषणा है। परिवार व्यवस्था को बनाए रखने के क्रम में आवश्यक संतान कामना ही जन–बल कामना है। यही पुत्रेषणा है। व्यवस्था में भागीदारी करना एवं इसके मूल्यांकन या पहचानकी कामना ही यश–बल कामना या लोकैषणा हैं।न्याय प्रधान दृष्टि से धीरता, वीरता, उदारता के भाव से जीना और वित्तेषणा, पुत्रेषणा, लोकेषणा की वरीयता होना, मानव की प्रवृत्ति को इंगित करता है। मानव की प्रवृत्ति का फल मानवीय व्यवस्था ही है।

देव मानव की दृष्टि धर्म प्रधान है। देव मानव का व्यवहार न्यायपूर्ण होने के साथ–साथ संपूर्ण प्रकृति के साथ सह–अस्तित्वपूर्वक होता है। इसीलिए परस्परता में धीरता, वीरता, उदारता के अतिरिक्त दया और कृपा की भी अभिव्यक्त होती हैं। देव मानव में लोकेषणा ही सुख का स्रोत होता है। देव मानव का लोकेषणा ही विषय है।

मानव से देव मानव में प्रवृत होना, हमारा विकास है। यह विकास हमारी आवश्यकता अनुसार घटित होता है समाज में अधिक उपकार करने की हमारी स्वीकृति और तीव्र इच्छा होती है तो हम

मानव से देव मानव में प्रवृत होते हैं। देव मानव से मानव में प्रवृत होना भी संभव है। मानव से देव मानव और देव मानव से मानव को हम देव मानव पद चक्र कहते हैं।

दिव्य मानव पद अथवा पद मुक्ति

दिव्य मानव की दृष्टि सत्य प्रधान अथवा सह–अस्तित्व रूपी परम सत्य है। अतः दिव्य मानव का स्वभाव धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा सहित करुणा प्रधान है। अर्थात दिव्य मानव सबके समाधान के लिए परम सत्य के अनुभव को अध्ययनगम्य कराता है। इस प्रक्रिया में दूसरे की जिज्ञासा बनाना या बढ़ाना और सत्य व वास्तविकता को सरलता से व्यक्त करना ही दिव्य मानव की करुणा है। करुणा, एक भाव है। करुणा में दया और कृपा समाहित हैं। सत्य की दृष्टि सहित दिव्य मानव करुणा युक्त स्वभाव से सबके लिए समाधान उपलब्ध कराते हैं और अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में सुखपूर्वक जीते हैं। यह जागृतिपूर्णता अथवा आचरणपूर्णता की स्थिति है जिससे अतिमानवीय व्यवस्था स्थापित होती है। दिव्य मानव में विकास और ह्रास की सभावना नहीं है अर्थात दिव्य मानव पद मुक्ति की स्थिति है और यह अस्तित्व में एक संक्रमण है।

मानव पद में मानव अनुभव संपन्न होता है अर्थात स्वयं से लेकर अस्तित्व का दृष्टा होता है। मानव से देव मानव और देव मानव से दिव्य मानव पद में दृष्टि अनुसार परिवार समाज में प्रमाणित होते हैं। अनुभव की स्थिति में न्याय, धर्म और सत्य की दृष्टि से संपन्न होते हैं। साथ ही, मानव में न्याय प्रधान, देव मानव में धर्म प्रधान और दिव्य मानव में सत्य प्रधान दृष्टि होने से, हर स्तर पर उपकार का अवकाश बढ़ता है। अतः मानव से दिव्य मानव तक अनुभव जीने के सभी आयामों में अभ्यासपूर्वक प्रमाणित होता है। सभी आयामों में पूर्णता से व्यक्त होना ही दिव्य मानव की स्थिति है। जागृतिपूर्ण अथवा आचरणपूर्ण स्थिति ही दृष्टा पद प्रतिष्ठा है।

अभ्यास व अध्ययन

पाठ – 19

यंत्र प्रमाण–मानव प्रमाण

समझने के तीन मुख्य आयाम हैं – ज्ञान, विवेक और विज्ञान। अस्तित्व की व्यवस्था को समझना ज्ञान हैं। मानव इस व्यवस्था में जीने का लक्ष्य बनाते हैं । समृद्धि को प्रमाणित करने के लिए विज्ञान के पक्ष का उपयोग करते हैं। विज्ञान के आधार पर यंत्र और उपकरण का निर्माण करते हैं जिससे कार्य और व्यवहार में सुलभता आती है और लक्ष्य की पूर्ति में सहयोग मिलता है।

इस प्रकार मानवीय लक्ष्य – समाधान, समृद्धि, अभय और सह–अस्तित्व की पूर्ति के लिए यंत्रों का उपयोग सार्थक होता है।यंत्र का अविष्कार इस उद्देश्य से हुआ हैं। यंत्र और उपकरण को दो मुख्य श्रेणियों में समझ सकते हैं –

1. मानव शरीर की ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त सूचना के विस्तार के लिए
2. मानव शरीर की कर्मेन्द्रियों की गति और शक्ति के लिए

मानव, वातावरण की सूचना को पाने के लिए ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग करते हैं। सूचना का उपयोग समझ के लिए करते हैं । इस प्रकार सूचना और समझ में भेद है जैसे भाई के साथ अपने संबंध को समझते हैं, माता पिता के साथ अपने संबंध को समझते हैं। स्पर्श, दृष्टि या आवाज़ से संबंध की पहचान नहीं होती है अपितु अपने भाई, माता–पिता आदि के वहाँ उपस्थित होने का प्रमाण मिलता है।

मानव–शरीर में स्थित ज्ञानेन्द्रियाँ जैसे आँख, कान, जीभ, त्वचा और नाक की कार्य करने की एक सीमा है, एक मर्यादा है और इनके द्वारा वातावरण की सूचना प्राप्त करते हैं। मानव अपनी आँख से एक सीमित विस्तार को ही देख पाते हैं। त्वचा एक मर्यादा में स्पर्श की संवेदना को ग्रहण करती है। कान की क्षमता भी एक सीमा तक आवाज़ को पहचानने में हैं। इस मर्यादित सूचना के साथ सभी मानव अपने वातावरण में सुखी रह सकते हैं।

पृथ्वी की व्यवस्था में ऊष्मा संतुलन एक महत्वपूर्ण आयाम है। पृथ्वी के अन्दर दबा कोयला, तेल आदि पृथ्वी की ऊष्मा को पीते हैं और पृथ्वी की व्यवस्था को संतुलित रखते हैं। यह मानव समझते हैं और समझकर विश्वास होता है कि कोयला, तेल आदि को अपनी जगह से निकालकर और व्यय करने से पृथ्वी असंतुलित होती है। इसके समझने के लिए कोई यंत्र या उपकरण की आवश्यकता नहीं है। यह तथ्य हर मानव समझ सकता है। यंत्र से मात्र इस बात का प्रमाण मिल सकता है कि ऐसा ही है। आज के युग में मानव यंत्रों से प्राप्त सूचना को समझ मानते हैं और उसको प्रमाण के रूप में न जानकार उसके आधार पर अपनी समझ को निर्धारित करते हैं। यह कारण है कि अभी भी वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पा रहे हैं कि पृथ्वी गरम हो रही है कि नहीं। वैज्ञानिक यंत्रों की सूचना के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहते हैं बल्कि अगर पृथ्वी की व्यवस्था को समझे तो यह स्पष्ट है कि कोयला, तेल आदि के न रहने से पृथ्वी की व्यवस्था असंतुलित हो गयी है।

सुख, व्यवस्था, संबंध – यह समझने की वस्तु है। सुख, व्यवस्था और संबंध के आधार पर विज्ञान होना समझने का प्रमाण होता है। प्रमाण अपने जीने में प्रकृति के साथ कार्य करते हुए, मानव के साथ व्यवहार करते हुए और संपूर्ण व्यवस्था में भागीदारी करते हुए व्यक्त होता हैं। ऐसा जीने से प्रयोग, व्यवहार और अनुभव मानव परंपरा में प्रमाणित होता है। मानव परंपरा में प्रयोग, व्यवहार और अनुभव अन्य मानव के लिए पीढी से पीढी प्रेरणा स्रोत होता है और मानव कुल में समाधान परंपरा की संभावना बनती है।

अभ्यास व अध्ययन

1. हम यंत्रों का उपयोग क्यों करते हैं? यंत्रों का सार्थक उपयोग कैसे हो पाता है?
2. यंत्रों से किन बातों का प्रमाण मिलता है? यंत्र प्रमाण अधूरे कैसे हैं?

पाठ – 20

स्थिति–गति

सूर्य का चक्कर लगाते हुए पृथ्वी अपनी धुरी पर निरंतर घूर्णन कर रही है। हर 24 घंटे में पृथ्वी अपनी धूरी पर एक घृर्णन पूरा करती है ।इसी से हम दिन और रात को पहचानते हैं। घूर्णन करते हुए पृथ्वी अपनी अखंडता को बनाये रखती है अर्थात पूरी की पूरी बनी रहती है और उसमें कोई विखंडन नहीं होता। इस प्रकार पृथ्वी का होना बना रहता है और पूरी की पूरी बने रहने के साथ ही वह घूर्णन करती है। पृथ्वी का इस प्रकार बना रहना या होने को हम 'स्थिति' कहते हैं। क्योंकि यह बदलता नहीं है। घूर्णन करने को हम 'गति' कहते हैं। इस प्रकार हमारी पृथ्वी घूर्णन करते हुए स्थिति और गति है।

अपनी धूरी में घृर्णन के साथ पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर भी लगा रही है। लगभग 365 दिनों में पृथ्वी सूर्य के चारों ओर एक वर्तुल में चक्कर को पूरा करती है। हर पल सूर्य से पृथ्वी की दूरी दो निश्चित ध्रुवों के बीच में बनी रहती है। पृथ्वी और सूर्य की परस्परता में यह गतिपथ एक 'स्थिति' है क्योंकि यह बदलती नहीं है। पृथ्वी इस गतपथ पर निरंतर सूर्य का चक्कर लगा रही है। पृथ्वी वर्तुल में चक्कर लगाते हुए गतिशील है। यह वर्तुल गति 'गति' है। इस प्रकार सूर्य और पृथ्वी की परस्परता भी स्थिति और गति है। पृथ्वी की स्थिति गतिपथ में ही है।

सूर्य, पृथ्वी और चन्द्रमा भी आकाश–गंगा में एक दूसरे के साथ अपनी स्थिति को बनाये रखते हुए गतिशील है। इस प्रकार यह परस्परता भी स्वयं में 'स्थिति और गति' है। आकाश–गंगा अन्य आकाश–गंगाओं के साथ मिलकर अपनी स्थिति बनाये रखते हुए गतिशील है।

अस्तित्व में हर जड़ इकाई स्वयं में स्थिति और गति को व्यक्त करती है। बने रहने वाले भाग को हम स्थिति के रूप में पहचान सकते हैं और उसके गतिविधि या क्रिया कलाप को हम गति के रूप में पहचान सकते हैं। जैसे एक पत्थर को देखें अगर पत्थर को हम ऊपर फेकें तो पत्थर गति पकड़ लेता है और साथ ही पूरा का पूरा बना भी रहता है। इस प्रकार उसकी स्थिति और गति हमें समझ में आती है। बहती हुई नदी में जल अपने गुणों के साथ बनी रहती है और

साथ–साथ जल में बहने से गति भी स्पष्ट समझ में आती है। वायुमंडल में हवा भी ऐसी ही है। हवा बने रहते हुए बहती है अर्थात उसमें गति रहती है। हर इकाई में स्थिति और गति है और मानव दृष्टा होने के क्षमता से परिपूर्ण होने से इसको समझ सकते हैं।

बने रहने में बल का उपयोग रहता है इसलिए स्थिति को हम बल भी कहते हैं। जैसे पृथ्वी बनी रहती है और बने रहने में एक सक्रियता है और इस सक्रियता को बल कहते हैं। पत्थर के होने को हम तोड़ने जाते हैं तो हम ताकत लगानी पड़ती है। यह ताकत पत्थर के बने रहने में जो बल समाहित है – उसके कारण ही लगता है।

हर इकाई का आचरण होता है अर्थात वह दूसरी इकाई के साथ संबंधित है और एक बड़ी व्यवस्था में भागीदार हैं। यह इकाई की क्रियाशीलता या गति है। जैसे पानी बने रहते हुए पृथ्वी की परस्परता में ढाल को पहचानता है और उसमें बहता है। यह कारण है कि नदी का पानी एक जगह से दूसरी जगह बहता रहता है। पानी का यह आचरण पानी की गति के रूप में व्यक्त होता है।

गति में शक्ति समाहित रहती है। पानी का बना रहना स्थिति है, ढाल के साथ पानी में प्रवाह उत्पन्न होता है और यह उसकी गति है, शक्ति है। इसी शक्ति का उपयोग कर मानव हवा में या जल में पंखे लगाकर इस शक्ति को बिजली में परिवर्तित करता है।

हमारी चारों तरफ हर जड़ इकाई स्थिति और गति के साथ वर्तमान है। पदार्थ अवस्था के मूल में परमाणु है जो स्वयं को बलपूर्वक बनाये रखते हुए अन्य परमाणु के साथ मिलकर अणु रचना बनाते हैं। दो परमाणु आपस में एक अच्छी दूरी में रहकर अपने अस्तित्व को बनाये रखते हुए जुड़ते है, योग करते हैं और परिणाम के रूप में एक स्थिर अणु रचना होती है। अणु रचनाएँ भी आपस में अच्छी दूरी बनाये रखते हुए एक दूसरे के साथ मिलकर रासायनिक या भौतिक रचनाओं को परिणाम देते हैं। प्राण कोशाएँ भी अच्छी दूरी के साथ व्यवस्था में हैं और इनके साथ बने रहने से नई रचनाएँ विकसित होती हैं। अपनी व्यवस्था को बनाये रखते हुए एक बड़ी व्यवस्था में भागीदारी के लिए जो क्रियाशीलता होती है – उसे स्वभाव–गति भी कहते हैं।

इकाई स्वभाव–गति के साथ व्यवस्था में भागीदारी करती है। पदार्थ के रूप में परमाणु से लेकर आकाशगंगा तक हर इकाई स्वभाव–गति में कार्यरत है और एक बड़ी व्यवस्था को व्यक्त

कर रही है। इस प्रकार प्रकृति की हर इकाई चाहे वह पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था, जीव अवस्था और ज्ञान अवस्था – स्वभाव–गति के साथ एक रचना है। इकाई के रूप में यह रचनाएँ प्रकृति में स्वयं स्फूर्त हैं और सह–अस्तित्व में विकास के तथ्य को स्पष्ट करती हैं। वनस्पति और जीव जानवर अपने कार्य कलाप में व्यवस्था में भागीदार है अर्थात स्वभाव–गति पूर्वक हैं। परन्तु मानव समझ कर ही व्यवस्था में भागीदारी कर पाते हैं अर्थात स्वभाव–गति में आ पाते हैं।

मानव शरीर और जीवन की एक संयुक्त रचना है। जीवन एक चैतन्य इकाई है और जीवन की क्रिया – भौतिक और रासायनिक क्रिया से भिन्न हैं। मानव कल्पनाशील होता है। कल्पना के साथ मानव कार्य और व्यवहार करने में भी स्वतंत्र होते हैं। इसको कर्म–स्वतंत्रता भी कहते हैं। कल्पनाशीलता स्वयं में बल है और यह मानव की स्थिति है। कर्म स्वतंत्रता शक्ति है, अभिव्यक्ति है और यह गति है। इस प्रकार कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता के साथ हम सभी मानव स्थिति गति के रूप में वर्तमान हैं। इस प्रकार चारों अवस्थाओं में स्थिति–गति अविभाज्य है।

अभ्यास व अध्ययन

1. स्थिति और गति किसे कहते हैं?
2. बल क्या है?
3. शक्ति क्या है?
4. स्वभाव गति किसे कहते हैं?
5. मानव स्थिति–गति में किस तरह है, इसे स्पष्ट कीजिए।

पाठ–21

शरीर व्यवस्था

हमारा शरीर पानी और अनेक रसायनों से बना है। शरीर की मूल इकाई प्राणकोशिका है जो लगभग 70–80 प्रतिशत पानी है। अनंत प्राणकोशिकाओं से रचित मानव शरीर मूलतः एक प्रणावस्था की इकाई है। शरीर में श्वसन–प्श्वसन क्रिया लगातार होती है। हम शरीर में वृद्धि भी देखते हैं। पहले शरीर छोटा दिखता है, फिर समय के साथ–साथ बढ़ता हुआ दिखता है और फिर बूढ़ा होता हुआ दिखता है। हाथ, पैर, टाँग, आँख, सर, बाल शरीर की उम्र के साथ एक समय तक बढ़ते है, फिर काफी समय तक पुष्ट बने रहते है और एक समय के बाद शरीर पर झुर्रीयाँ आती है, माँस–पेशियाँ थोड़ी कमज़ोर होती है, हड्डियों नाज़ुक हो जाती है। यह शरीर का स्वाभाविक क्रम है। साथ ही, शरीर आवश्यकता अनुसार पोषण की चीज़े स्वीकारता है और शोषक चीज़े बाहर निकालता है।

ठीक इसी तरह (प्राणावस्था में) पेड़–पौधों की भी बनावट है। उनमें श्वसन क्रिया लगातार चलती रहती है। श्वसन और अन्य क्रियाओं से अपने पोषण के लिए हवा, पानी, मिट्टी से पोषक तत्व लेते है और अनावष्यक तत्व बाहर करते है। हर पेड़ और पौधे की वृद्धि और आयु होती है।

प्राणकोशिका, प्राणसूत्र और रचना सूत्र का संयुक्त रूप है। प्राण सूत्र है यानि कोशिका में श्वसन क्रिया निरंतर है। रचना सूत्र है यानि कोशिका से क्या–क्या रचना होनी है यह निश्चित है। प्राण सूत्र होने पर ही रचना सूत्र है। अर्थात् प्राणकोशिका में श्वसन है तो कोशिका किसी रचना के लिए ज़िम्मेदार है ही। इसलिए प्राण सूत्र और रचना सूत्र अविभाज्य है। रचना सूत्र शरीर की हर रचना का बीज है। कौन सा अवयव कहाँ बनना है, उसका आकार क्या होगा, उसका वज़न क्या होगा, उसका रंग क्या होगा, वह किन तत्वों से बनेगा, वह कितनी मात्रा में बनेगा, वह किस गति से चलेगा, इत्यादि। हर कोशिका में प्राण और सूत्र समाया है। रचना सूत्र में शरीर के हर अवयव हर तंत्र का रूप और गुण और उनकी शरीर की व्यवस्था के हर अवयव, हर तंत्र का रूप, गुण और उनकी शरीर की व्यवस्था में भागीदारी निश्चित है। जैसे हृदय के चार खाने होंगे,

बाए खाने में शुद्ध रक्त जाएगा और दाए में अशुद्ध रक्त जाएगा, शुद्ध रक्त का रंग लाल होगा, अशुद्ध रक्त का रंग नीला होगा, हृदय का वज़न 250 ग्राम से 350 ग्राम के बीच में होगा, हृदय से रक्त पूरे शरीर में रक्त तंत्र द्वारा जाएगा, रक्त संचार शरीर के हर अंग को पोषण देगा। यह सारी प्रक्रिया कोशिकाओं के रचना सूत्र में नियमबद्ध है।

हमारी कोशिकाओं के रचना सूत्र में उनकी उम्र भी निश्चित है। कई कोशिकाएँ कुछ दिन जीवित रहती है जैसे लाल रक्त कोशिकाएँ; कई कुछ हफ्ते या महीने भी जीवित रहती हैं जैसे मेधस की कोशिकाएँ। शरीर में रोज़ हज़ारों–लाखों प्राणकोशिकाएं मरती हैं ओर बनती है। हम इस प्रक्रिया को अपनी त्वचा पर भी देखते है। रोज़ हमारे चहरे से खुष्क त्वचा सूख कर गिरती है और नई त्वचा बनती है। पोषण देने से शरीर में नई कोशिकाऐं बनती रहती है। शरीर के पोषण के लिए सही आहार का सेवन करते हैं। सही आहार का तात्पर्य है वह आहार जो शरीर (पेट और आँतों) में आसानी से पच जाता है और उसके पोषक तत्व रक्त में मिल जातें हैं। रक्त इन पोषक तत्वों को पूरे शरीर में हृदय द्वारा रक्त संचार से पहुँचाता है। हृदय से रक्त संचार व्यवस्थित ढंग से हो पाऐ उसके लिए हृदय का पोषण आवश्यक है। हृदय का पोषण भी शुद्ध रक्त से होता है। साथ ही, व्यायाम और श्रम से हृदय की मांस–पेशियाँ पुष्ट रहती है जिससे हृदय अपना कार्य ठीक से और लगातार कर पाता है। इसलिए हमारे शरीर के पोषण के लिए शुद्ध और पोषक तत्वों युक्त रक्त आवश्यक हैं। शरीर को पोषक तत्व भोजन से मिलता है। फेफड़ों और गुर्दों द्वारा रक्त शुद्ध होता है। यह अशुद्धता शरीर से प्रश्वसन, पसीने या मूत्र द्वारा बाहर निकल जाती है।

यह शुद्ध रक्त पहले हृदय में जाता है और वहाँ से अन्य अवयव तक पहुँचता है। जिस समय शुद्ध रक्त फेफड़ों से हृदय के एक भाग में जाता है, ठीक उसी समय हृदय के दूसरे भाग से अशुद्ध रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़ों में जाता है। इसी तरह शुद्ध रक्त कोशिकाओं को पोषण देता है और साथ ही इनमें गंदगी रसायनिक क्रिया द्वारा रक्त में मिल जाती है। अशुद्ध रक्त से केवल अनावश्यक तत्व छन कर शरीर से बाहर निकलते है। किसी पोषक तत्व की मात्रा अधिक होने से भी हमारे गुर्दे में वह अधिक मात्रा रक्त से छन कर शरीर के बाहर मूत्र द्वारा निकल जाती है। इस प्रक्रिया में अव्यवस्था होने से शरीर में मधुमेह जैसे रोग पैदा होते हैं। हृदय के द्वार खुलना–बंद होना, फेफड़ों का फैलना और सिकुड़ना, गुर्दे से मूत्र मूत्राशय तक पहुँचना, भोजन का पेट और आँतों में जाना, कलेजे से पाचक रस पहुँचना, भोजन का पचना, पचने के बाद बचा हुआ

मल मलाशय से बाहर निकलना – यह सब संयुक्त रूप में शरीर व्यवस्था कहलाता है।

मेधस की रचना, उसका आकार, रूप, रंग, उसकी क्रियाशीलता और उसकी शरीर की व्यवस्था में भागीदारी (यानि उसका प्रयोजन) का सूत्रधार प्राणकोशिकाओं का रचना सूत्र है।

जीवन मेधस तक संकेत पहुँचाता है और मेधस यह संकेत स्नायु तंत्र द्वारा बाकि शरीर तक पहुँजाता है। जैसे हम सामान उठाने के लिए झुकना चाहते हैं। हमारी यह चाहना जीवन में उत्पन्न होती है। हमारी चाहना का संकेत जीवन द्वारा मेधस तक पहुँचता है।मेधस इस संकेत को बाकि शरीर तक अपने ज्ञानवाही तंत्र से स्नायु तंत्र द्वारा पहुँचाता है। ज्ञानवाही तंत्र द्वारा यह संकेत कमर तक पहुँचाता है। संकेत पहचानते हुए कमर जीवन की स्वीकृति से सामान उठाने के लिए झुकती है। यह सारी क्रिया शरीर में बहुत तेज़ी से होती है। एक सामान्य शरीर में कमर कितनी झुक सकती है यह प्राणकोशिका की रचना सूत्र में निश्चित है।

इसी तरह शरीर को चोट लगने पर खून अपने आप घाव की जगह पर जम जाता है। क्रियावाही तंत्र द्वारा रक्त में 'अपने आप' होने वाली क्रिया प्रारंभ होती है। हमारा जीवन घाव के संकेत को पहचानते हुए अपनी स्मृति से इसको दर्द के रूप में पहचानता है तथा मेधस ज्ञानवाही तंत्र द्वारा दर्द को शरीर से व्यक्त करता है। जैसे घाव लगने पर हमारा चेहरा सिकुड़ जाता है।

खून कब जमता है, किन कोशिकाओं और तत्वों के सहयोग से जमता है, कितनी देर में जमता है, यह सब हमारे रचना सूत्र में निहित है। खून कितनी दूरी तक जम सकता है यह भी रचना सूत्र निश्चित करता है। इसलिए ज़्यादा गहरी चोट लगने पर खून कई बार अपने आप जम नहीं पाता और हमें टांके लगवाने पड़ते है। अधिक खून बहने से हम अपने शरीर को कमज़ोर पाते है क्योंकि हर अवयव तक पर्याप्त खून नहीं पहुँच पाता। इसलिए अक्सर अधिक खून बहने पर हम तुरंत बैठ जाते है। पर्याप्त खून हमारे मस्तिष्क तक न पहुँचने पर मस्तिष्क ठीक से कार्य नहीं कर पाता है और इसलिए जीवन का संकेत बाकि शरीर तक नहीं पहुँच पाता।

हमारे जीवन के संकेत मस्तिष्क पहचान नहीं पाता यानी ज्ञानवाही तंत्र अपनी भागीदारी नहीं कर पाता, इस स्थिति को बेहोशी कहते है। इस स्थिति में शरीर क्रियावाही तंत्र द्वारा नियंत्रित रहता है परंतु जीवन अपने आप को शरीर द्वारा व्यक्त नहीं कर पाता क्योंकि ज्ञानवाही तंत्र सुन्न होता है।

हमारा मस्तिष्क रसायन में डूबा हुआ है। इस रसायन से हमारे मेधस में पानी और कुछ खनिज अंदर जाते है और अन्य पदार्थ बाहर ही रहते है। यह व्यवस्था भी हमारी प्राणकोशिका अर्थात् रचना सूत्र में निहित है। इसी तरह फेफड़े केवल अशुद्ध हवा बाहर निकालते हैं। हमारे फेफड़ों की फैलने और सिकुड़ने की अधिकतम और न्यूनतम क्षमता भी रचना सूत्र में तय है। हर प्राणकोशिका में शरीर के हर अवयव की रचना, क्षमता, प्रयोजन रचना सूत्र में सूत्रित है। इस शरीर रचना का हम कैसे प्रयोग करते है यह हमारी समझ पर आधारित है। इस शरीर रचना द्वारा हम कैसे कार्य और व्यवहार में व्यक्त होते है यह हमारी समझ से निश्चित होता है। हम शरीर को एक व्यवस्था के रूप में समझते है तो हम स्वास्थ्य को समझ पाते है। हम स्वास्थ्य समझ पाते है तो हम अपने शरीर की ज़िम्मेदारी सहजता से स्वीकारते है। यहीं संयम है। स्वास्थ्य को बनाए रखने में हमारे जीवन का समझदार होना प्रधान चीज़ है, उसमें शरीर की व्यवस्था समझना समाया है।

जागृत जीवन स्वयं में व्यवस्था है और ज्ञान से संचालित है। अर्थात् जागृत जीवन सह–अस्तित्व के नियम से संचालित है। मानव के निरंतर सुख से जीने की मूल चाहना सह–अस्तित्वपूर्वक ही संभव है। शरीर भी एक व्यवस्था है जो नियम अनुसार कार्य करता है। समझ को प्रमाणित करना ही जीवन का लक्ष्य है। इसको प्रमाणित करने में शरीर विधिवत कार्यरत रहता है। जैसे पाचन–निष्कासन, श्वसन–प्रश्वसन, रक्त संचार, उत्सर्जन क्रियाओं के रूप में कार्यरत रहता है। समझ के आधार पर इन क्रियाओं का बना रहना ही स्वास्थ्य है। इनमें से कुछ खराब होने पर समझ से संचालित होने के कारण जागृत जीवन शरीर को ठीक करता है।

अभ्यास व अध्ययन

पाठ–22

मानवीय आहार

मानव के लिए आहार अनिवार्य क्रिया कलाप है। आहार से ही शरीर को पोषण मिलता है। पोषण से शरीर स्वस्थ रहता है। स्वस्थ शरीर के द्वारा जीवन अपनी जागृति को प्रमाणित करता है। शरीर अस्वस्थ होने पर जीवन अपनी जागृति को प्रमाणित कर नहीं सकता है।

अतः मानव की जागृति प्रमाणित होने के क्रम में आहार एक महत्वपूर्ण भाग है।

मानव आहार की समझ के लिए मानवेत्तर प्रकृति के सभी अवस्थाओं का प्रयोजन, मानव का प्रयोजन एवं मानव प्रयोजन को पूरा करने के क्रम में शरीर का प्रयोजन स्पष्ट होना अनिवार्य है। हम यह समझ चुके है कि मानव कर्म करने में स्वतंत्र है एवं फल भोगने में परतंत्र है। यहाँ परतंत्र का अर्थ है कर्म या कार्य के अनुसार फल होता है। इसे हम इस प्रकार से समझते हैं कि जागृत मानव कर्म करने में स्वतंत्र है एवं फल भोगने में भी स्वतंत्र है। जागृत मानव प्रत्येक कार्य के फल को जानता है। कौन से फल चाहिए एवं कौन से फल वर्जित हैं, इसे पहचानता है। इसलिए उन्हीं कर्मों को करता है जो सुखदायी है। इसलिए जागृत मानव के सभी कार्यों का फल सुख होता है।

मानवेत्तर प्रकृति की प्रत्येक इकाई 'त्व' सहित व्यवस्था है एवं समग्र व्यवस्था में भागीदारी करती है। 'त्व' का अर्थ पदार्थ अवस्था में परिणाम अनुषंगी व्यवस्था, प्राणावस्था में बीजानुषंगी व्यवस्था एंव जीवावस्था में वंशानुषंगी व्यवस्था है।

मानवेतर प्रकृति की प्रत्येक इकाई का आचारण निश्चित है, कभी भी बदलता नहीं है। यही व्यवस्था होना है। आचरण बदलना अव्यवस्था है। मानव 'मानवत्व' सहित निश्चित आचरण करता है एवं व्यवस्था में भागीदारी करता है। यह मानवत्व संस्कार अनुषंगी व्यवस्था कहलता है। जीवावस्था के वंशानुषंगी आचरण का अर्थ है – जीवावस्था की सभी इकाई शरीर एवं उसकी परंपरा को बनाए रखने के लिए जीते है। इसके लिए आहार, निद्रा, स्वयं की सुरक्षा, प्रजनन क्रिया एवं सक्षम होने तक संतान का पोषण–संरक्षण क्रिया करते हैं। इसमें व्यतिरेक नहीं दिखता है।

ज्ञानावस्था अर्थात मानव के संस्कार अनुषंगी आचरण का अर्थ है सभी मानव चाहे जागृत हो या भ्रमित हो, जीवन की तृप्ति एवं उसकी परंपरा के लिए जीते हैं। भ्रमित मनुष्य भी सुख की आशा में या जीवन की तृप्ति की आशा में भूखे रहते हुए (उपवास), तप करते हुए (शारीरिक कष्ट सहना), युद्ध में मृत्यु के लिए भी तैयार होते हुए (शहीद होना) एवं आत्महत्या तक करते हुए देखे जाते हैं। सुख के लिए दूसरों को कष्ट देने (पर पीड़ा), हत्या, खूब भोजन करने, शारीरिक सुख भोगने जैसे कार्य भी करते हुए देखे जाते हैं। इसी प्रकार ये प्रजनन क्रिया, संतान के पोषण–संरक्षण जैसे कार्य करते हैं एवं नहीं भी करते हैं। इनके कार्यों में निश्चयता नहीं दिखती परन्तु सभी कार्य जीवन की तृप्ति के लिए करते हैं। जीवन की तृप्ति किस कार्य से होगी – इस बारे में भ्रमित रहने के कारण अनिश्चित आचरण करते हैं। जीवन तृप्ति के बारे में निर्भ्रम होना ही जागृति है। यही मानव के कार्य–कलापों का निश्चय है, निश्चित आचरण है। यही मानवत्व है। मानवत्व सहित व्यवस्था में मानव के सभी क्रियाकलाप निश्चित होते हैं – मानव का आहार भी निश्चित होता है। भ्रमित मानव के सभी क्रियाकलाप निश्चित नहीं होते, आहार के बारे में भी अनिश्चयता एवं अनिश्चित आचरण दिखता है।

मानव में कल्पनाशीलता एवं कर्म स्वतंत्रता होती है। इसका फैलाव जीवन की तृप्ति एवं उसकी परंपरा होती है। भ्रमित होने पर इसकी दिशा भिन्न होती है अर्थात् प्रिय, हित एवं लाभ दृष्टियों तक सीमित रहती है। जागृति होने पर न्याय, धर्म एवं सत्य से प्रिय, हित एवं लाभ दृष्टि नियंत्रित होती है। प्रिय, हित एवं लाभ तक सीमित दृष्टि होने पर आहार स्वाद के लिए, शरीर की पुष्टि के लिए एवं लाभ दृष्टि से होता है – इन सबका संयुक्त प्रकाशन सुविधा, भोग, संग्रह एवं युद्ध में ही हो पाता है।

कल्पनाशीलता एवं कर्म स्वतंत्रता के कारण मानव प्रकृति के लगभग सभी इकाईयों को खा सकता है। जो विष हैं उन्हें भी शोधित कर या निर्विष बनाकर खा सकता है। जो अपशिष्ट या सड़े–गले वस्तु हैं उन्हें भी सुगंधित कर खा सकता है। कई प्रकार के वस्तुओं के योग–संयोग के द्वारा खाने योग्य स्वाद, गंध पैदा कर सकता है एवं शरीर के अनुकूल भी बना सकता है। यदि खाना ही प्रयोजन माना हो, आहार ही सुख का स्रोत माना हो तो मानव की कल्पनाशीलता – कर्म स्वतंत्रता इसमें लगे ही रह सकती है। ऐसी दशा में आहार का निश्चयन होना संभव नहीं है। मानव प्रयोजन स्पष्ट होने पर आहार का प्रयोजन स्पष्ट होता है। आहार का प्रयोजन स्पष्ट होने

पर आहार के उचित–अनुचित होने की पहचान होती है।

यह स्पष्ट है कि धरती पर रचना क्रम में सर्वप्रथम धरती अनेक प्रकार के रसायन एवं रसों से समृद्ध हुई। इसके पश्चात प्राणावथा का प्रकटीकरण हुआ। प्राण अवस्था में भी एक प्रजाति की बीजानुषंगी परंपरा बनने के उपरान्त अन्य प्रजाति के प्राणकोशिका अनुसंधान पूर्वक प्रकट हुए। इसी के पश्चात प्राणावस्था से ही, प्राण कोशिकाओं की एक विशेष रचना स्वदेज प्रकट हुए। इसमें कई प्रकार के सूक्ष्म प्राणी एवं कीड़े मकोड़े आते हैं। स्वेदज से मेधस तंत्र की रचना प्रारंभ होती है। वनस्पतियों में मेधस नहीं होता। स्वेदज में क्रम से रचनाएँ और समृद्ध होते हुए अंडज एवं पिण्डज रचनाएँ प्रकट हुए। इस क्रम से शरीर में सप्त धातु विकसित होते रहे, साथ–साथ मेधसतंत्र भी विकसित होता रहा। सप्तधातु से रचित शरीर में 'समृद्ध मेधस' रचना पूर्ण हुई। 'समृद्ध मेधस' के द्वारा 'जीवन' अपने आशा को व्यक्त करने में समर्थ हुआ। इसी क्रम में 'ज्ञानावस्था में मानव शरीर में समृद्धिपूर्ण मेधस तंत्र रचित हुआ जिसके द्वारा 'जीवन' के अनुभव संकल्प, इच्छा, विचार एवं आशा व्यक्त होना संभव हुआ।

उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, पिण्डज सभी प्राण कोशिका से बनी रचनाएँ हैं। फिर भी ये रचनाएँ समान नहीं है। इनमें अनेक प्रकार के रसायन पाए जाते हैं। इसी कारण इनका गंध, स्वाद भिन्न–भिन्न होता है। मानव–शरीर द्वारा भिन्न–भिन्न रसायनों को पहचानने का आधार गंध एवं स्वाद ही है। इसी आधार पर वनस्पति की रचनाओं एवं स्वेदज, अण्डज, पिण्डज, रचनाओं को दो वर्ग में बाँटा जाता है शाक वर्ग एंव मांस वर्ग। वनस्पति शाक वर्ग में एवं स्वेदज, अण्डज, पिण्डज मांस वर्ग में आते हैं। मांस वर्ग की रचनाओं में मेधस पाया जाता है।

प्रकृति की चार अवस्थाओं में परस्पर पूरकता स्पष्ट हाती है। पदार्थ अवस्था एवं प्राण अवस्था, प्राण तथा जीव अवस्था में परस्पर पूरकता स्पष्ट है। इसके अलावा पदार्थ, प्राण एवं जीवावस्था ज्ञानावस्था के लिए पूरक होना स्पष्ट होता है। ज्ञानावस्था इसके लिए पूरक हो सकता है – जागृत होने पर अन्यथा पूरक नहीं हो पाता। जीवावस्था में आहार के आधार पर दो बड़े विभाजन बनते हैं शाकाहारी एवं मांसाहारी। आहार का यह विभाजन, जीवावस्था के संतुलन पूर्वक व्यवस्था में होने को स्पष्ट करना है। संतुलन का तात्पर्य सभी प्रजाति के जीवों की परंपरा बने रहने से है। शाकाहारी एंव मांसाहारी में तुलना करने पर पाते हैं कि शाकाहारियों की प्रजाति, संख्या, आयु एवं प्रजनन दर मांसाहारी से अधिक होते हैं। इसी आधार पर मांसाहारियों के लिए आहार अनवरत

उपलब्ध रहता है एवं दोनों वर्गों की संख्या एक सीमा में स्थिर बनी रहती है। स्वदेज एवं कीड़े–मकोड़ों की संख्या प्राकृतिक वातावरण अर्थात मौसम विधि से नियंत्रित रहता है। एक निश्चित प्रकार का मौसम आते ही कीड़े–मकोड़े पैदा होने लगते है, एवं वह मौसम हटते ही वे नष्ट हो जाते हैं। जीवावस्था में एक छोटा वर्ग दोनों प्रकार का आहार करते हुए पाए जाते हैं। इन्हें सर्वाहारी के रूप में पहचाना जाता है। इनका आहार प्रणाली देखने पर हम पाते हैं कि ये मुख्यतः शाकाहारी होते है तथा कुछ कीड़े–मकोड़े का सेवन करते हैं एवं प्राकृतिक संतुलन की दृष्टि से कोई व्यवधान नहीं पैदा करते। इनमें से कुछ जो मांसाहारी होते हैं जैसे कुत्ता, बिल्ली; ये मानव के संपर्क में आकर ही शाकाहारी होते हैं। अपने प्राकृतिक आवास, वन में रहने पर मांसाहारी ही बने रहते हैं।

मानव के आहार का विवेचन करने पर हम पाते हैं कि कल्पनाशीलता एवं कर्म स्वतंत्रता के कारण मानव दोनों प्रकार के आहार कर सकता है। उचित आहार का निर्णय करने के लिए मानव जीवन का प्रयोजन एंव शरीर रचना इन दोनों आधार पर ध्यान देते हैं। मानव–शरीर की रचना में जबड़े, दाँत, नाखून की संरचना मांसाहारियों जैसी नहीं पाई जाती है, शाकाहारी जैसे होते हैं। दूसरा बिन्दु, मांसाहारी जीव चाट कर पानी पीते हैं जबकि शाकाहारी होठों से पानी पीते हैं। मानव होठों से ही पानी पीता है। तीसरा महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि शाकाहारियों की आँतों की लंबाई मांसाहारियों की तुलना में अधिक होती है। इसी क्रम में मानव की आँतो की लंबाई मांसाहारियों से अधिक होती है।

विभिन्न प्रकार के अभ्यासों को देखने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि मांस वर्ग की रचनाएँ मानव शरीर में पाचन के लिए गरिष्ठ होती हैं। इसे कच्चा खाना संभव नहीं होता। जीवावस्था की इकाईयाँ इसे कच्चा ही खाती है। दूसरा बिन्दु, शिशु एवं प्रौढ़ – वृद्ध अवस्था में मानव शरीर पके मांस को भी पचा नहीं पाता। तीसरी बात यह देखी गई है कि लंबे समय तक सेवन करने पर ये रोग कारक होते हैं। चौथी बात यह है कि मानव केवल मांसाहार ही करे तो वह बहुत जल्दी अस्वस्थ हो जाता है। मांस पाचन के उपरांत बने द्रव्य शरीर के रसों को उत्तेजित करते हैं एवं इनकी मात्रा अधिक होने पर शरीर रोगी हो जाता है। इसलिए शुद्ध मांसाहार करते हुए मानव प्रायः नहीं पाए जाते एवं प्रधान रूप में शाकाहारी अल्प मात्रा में मांस सेवन करते हुए लोगों को आज भी देखा जा सकता है।

शाक वर्ग के अधिकांश वनस्पति जीवावस्था एवं मानव–शरीर के अनुकूल होती है। मांस वर्ग के अधिकांश प्रजाति मानव शरीर के अनुकूल नहीं होते। शाक वर्ग में भी कुछ वनस्पति विष एंव उपविष वर्ग में आते हैं। विष वह वनस्पति है जिसकी अल्प मात्रा से ही मानव शरीर मं अचेतावस्था, संज्ञाशुन्यता एवं मृत्यु के लक्षण पैदा हो जाते हैं। उपविष उतनी ही मात्रा में शरीर में शिथिलता या उत्तेजना को बढ़ाते है एवं अधिक मात्रा में विश होने का कारण बनते हैं। भ्रमित अवस्था में उत्तेजना, निद्रा एंव सम्मोहनात्मक मानसिकता के लिए इनका सेवन किया जाता है। ये भी शरीर के लिए हानिकारक है, रोग कारक होते हैं। शारीरिक अस्वस्थता पर निपुण चिकित्सक के मार्ग दर्शन में ही इसका सेवन उचित होता है।

मानव का प्रयोजन जीवन जागृति को प्रमाणित करना है। प्राकृतिक संतुलन को बनाए रखते हुए मानवीय व्यवस्था के पाँचो आयामों में भागीदारी करना ही जागृति को प्रमाणित करना है। ऐसी अवस्था में आहार का उद्देश्य मानव–शरीर को स्वस्थ बनाए रखना ही है। भोग, संघर्ष के लिए प्रयुक्त शरीर के आहार अलग प्रकार के होते हैं। व्यवस्था में जीने के लिए अलग प्रकार के आहार होते हैं। स्वाद के लिए अनगिनत व्यंजन चाहिए तो भी तृप्ति संभव नहीं है। विभिन्न भौगोलिक परिस्थिति में उगने वाली वनस्पति उस स्थान विशेष में रहने वाले मानव के लिए स्वास्थ्यवर्धक होते हैं। इसलिए सीमित शाकाहार प्रजाति के सेवन से मानव अपने शरीर को स्वस्थ बनाए रख सकता है एवं अपने समय का अधिक भाग मानवीय व्यवस्था के भागीदारी में लगा सकता है। यही जीवन की तृप्ति एवं उसकी परंपरा बनाना है।

अभ्यास व अध्ययन

1. ऋतुओं के अनुसार मैं अपने आहार में किस तरह का बदलाव करता/करती हूँ?
2. आवासीय स्थान के अनुसार भी आहार में किस तरह का परिवर्तन होता है?
3. शरीर में रसों के असंतुलन से क्या–क्या होता है?
4. दाँतों की सफाई के लिए किन चीज़ों का प्रयोग करते है
5. औषधियाँ सीधे रक्त में मिलने से क्या होता है? कुछ उदाहरण बनाइए।
6. पथरी कैसे होती है? इसे ठीक करने के लिए क्या करते है?

पाठ–23

मानवीय उत्पादन कार्य – आवर्तनशील उद्योग

मानव की समृद्धि में उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान है। सामान्याकांक्षा एवं महत्वाकांक्षा दोनों प्रकार के वस्तु उत्पादन में उद्योगों की महत्वपूर्ण भूमिका है। कृषि एवं उद्योग आवर्तनशील होने पर पूरी अर्थव्यवस्था आवर्तनशील होती है। आवर्तनशील अर्थ व्यवस्था से ही मानव परंपरा में समृद्धि की निरन्तरता होती है।

मानवीय व्यवस्था में उद्योग आवर्तनशील होते हैं। आवर्तनशील उद्योगों में 4 प्रकार की आवर्तनशीलता अनिवार्य है।

1. कच्चे माल की आवर्तनशीलता
2. ईंधन की आवर्तनशीलता
3. जल की आवर्तनशीलता
4. अपशिष्ट पदार्थों की आवर्तनशलता

1. कच्चे माल की आवर्तनशीलता : किसी भी उद्योग में कच्चे माल की आवर्तनशीलता अनिवार्य है। जिन वस्तुओं से कोई उत्पादन होता है उसे कच्चा माल कहते हैं। जैसे लोहा बनाने के लिए लौह अयस्क, ईंधन, चूने का पत्थर आवश्यक होता है। इन सबको सम्मिलिति रूप में 'कच्चामाल' कहा जाता है। कच्चे माल को मुख्यतः दो भागों में बाँटा जा सकता है:

प्रथम : प्रदार्थावस्था का कच्चे माल में प्रयोग;

द्वितीय : प्राणकोशिका रचना को कच्चे माल के रूप में प्रयोग, करना।

पदार्थावस्था का कच्चे माल के रूप में प्रयोग उद्योगों का प्रधान भाग है। इसमे मिट्टी, रेत, पानी, खनिज, पाषाण आते हैं।

मुख्यतः उत्खनन द्वारा पदार्थवस्था को कच्चे माल के रूप में प्राप्त किया जाता है। इसके पश्चात

ही उनका परिष्करण होते हुए कई तरह के उद्योग होते हैं। इनमें धातु कर्म एक प्रधान भाग है।

सभी प्रकार के उद्योगों के लिए धातुओं के द्वारा अनेक यंत्र एवं उपकरण बनाए जाते हैं। अतः उत्खनन एवं धातु कर्म – उद्योगों के आधार कहे जा सकते हैं। इस स्तर पर आवर्तनशीलता की पहचान होना एवं प्रयोगों द्वारा स्थापित कर लेना – मानव परम्परा में आवर्तनशील उद्योगों की सफलता है।

कच्चे माल के स्तर पर आवर्तनशीलता होने पर बने हुए उत्पादों में आवर्तनशीलता की संभावना बनी रहती है। प्राण कोशिका रचनाओं का कच्चे माल के रूप में प्रयोग आवर्तनशील होता है। या इन्हे आवर्तनशील बनाए रखा जा सकता है।

मानवोपयोगी प्रायः सभी वस्तुएँ एवं तत्व धरती की सतह पर पाए जाते हैं जैसे चूना, लौह, एल्युमिनियम आदि। मिट्टी अनेक तत्वों से बने यौगिकों का मिश्रण है। धरती की सतह पर प्राणावस्था के लिए सभी उपयोगी खनिज एवं रसायन पाये जाते है – इसका प्रमाण धरती की सतह पर प्राणावस्था की सहस्त्रों प्रजातियाँ है। ये सभी प्रजातियाँ रासायनिक द्रव्यों की विविधता सम्पन्न होती हैं। उनका अनुपात भी भिन्न–भिन्न होता है। ये सभी खनिज द्रव्यों को धरती की सतह से ही प्राप्त करती है।

2. ईंधन की आवर्तनशीलता : उद्योगों में ईंधन एक अनिवार्य भाग है। मानव श्रम से कुछ कार्य होते है। पशु श्रम से इससे अधिक कार्य होता है। ईंधन के द्वारा इन दोनों कार्यों का कराया जा सकता है।

ईंधन से उच्चताप पैदा किया जाता है। इससे कई प्रकार के धातुकर्म किए जाते हैं। उच्चताप से विद्युत चुम्बकत्व, प्रकाश, ध्वनि पैदा किए जाते हैं।

ईंधन का आवर्तनशील होना अनिवार्य है। धरती की सतह पर पाये जाने वाले सभी स्रोत आवर्तनशील होते हैं। उत्खनन द्वारा प्राप्त ईंधन आवर्तनशील नहीं होने से उनकी उपलब्धता घटती है साथ ही प्रदूषण के कारक होते हैं।

3. जल की आवर्तनशीलता : जल प्रायः सभी उद्योगों में उपयोग में आता है। जल का एक मात्र स्रोत वर्षा ही है। वर्ष–भर उपयोग में आने वाले जल का संचय करना ही आवर्तनशीलता का एकमात्र उपाय है।

4. अपशिष्ट पदार्थों की आवर्तनशीलता : किसी भी उद्योग में उपयोगी कच्चा माल पूरा उपयोग में नहीं आता। उसकी अशुद्धियाँ निकाल दी जाती है। ये अशुद्धियाँ प्रदूषण का कारण होते हैं। ये अशुद्धियाँ अपशिष्ट पदार्थ कहलाते हैं।

अपशिष्ट कई प्रकार के होते हैं – कुछ गैसीय स्वरूप में होते है जैसे कारखानों से उठता ध ुँआ, बहुत सूक्ष्म धूल के कण, रासायनिक उद्योगों की गंध। ये सभी वायुमण्डल में फैलते हैं। ये रोग के कारक हो सकते हैं।

कुछ अपशिष्ट द्रव रूप में होते हैं। ये जल में घुलनशील एवं अघुलनशील होते हैं। अंततः नाले– नदी होते हुए बड़े जलाशयों एवं समुद्र में पहुँचते हैं। उन्हे प्रदूषित करते हैं। यही जल ध ीरे–धीरे रिसकर भूमिगत जल स्रोतों तक पहुँचता है एवं जल को प्रदूषित करता है। जल में अविलेय अपशिष्ट पदार्थ भूमि में स्थिर होकर प्रदूषण करते हैं। ये वायु द्वारा उड़कर या वनस्पतियों द्वारा अवशोषित होकर भोजन एवं पर्यावरण को दूषित करते हैं।

ठोस रूप में होने वाले अपशिष्ट भी उपरोक्तत प्रकार का प्रदूषण फैलाते हैं।

अतः अपशिष्ट–प्रबंधन उद्योगों के साथ जुड़ा हुआ बहुत महत्वपूर्ण भाग है। इसमे चूक होने पर उद्योग मानव की समृद्धि के कारण न होकर रोग के कारक हो जाते हैं।

अपशिष्ट उत्सर्जन स्थली पर ही इनका प्रबंधन मानवीय परम्परा के लिए हितकर होता है।

मानवीय व्यवस्था में सभी उद्योग आवर्तनशील होते हैं। उपरोक्त चारों प्रकार की आवर्तनशीलता सुनिश्चित करने योग्य उत्पाद ही मानव परम्परा में प्रचलित होते हैं।

अभ्यास व अध्ययन

1. आवर्तनशील उद्देश्यों में कौन–कौन सी आवर्तनशीलताओं का ध्यान रखना आवश्यक है?
2. कच्चे माल की आवर्तनशीलता क्यों आवश्यक है? ये कैसे हो सकता है?
3. ईंधन की आवर्तनशीलता क्यों जरूरी है? कुछ आवर्तनशील ईंधन स्रोतों के नाम बताइए।
4. अपशिष्ट पदार्थों की आवर्तनशीलता को स्पष्ट कीजिए।

पाठ–24

मानवीय विनिमय कोष

विनियम–कोष का उद्देश्य प्रत्येक समाधानित परिवार में समृद्धि प्रमाणित होना है। परिवार में समृद्धि प्रमाणित होने पर समाज में अभय एवं सह–अस्तित्व प्रमाणित होता है।

सार्वभौम व्यवस्था या विश्व परिवार व्यवस्था के स्तर पर विनिमय नीति लाभोन्मुखी नहीं होती, लाभ–हानि मुक्त होती है। इसका उद्देश्य प्रत्येक परिवार के द्वारा किए गए उत्पादन का विनिमय होना है – तभी परिवार में समृद्धि होती है। इसके लिए प्रत्येक परिवार की आवश्यकता का पूर्वनुमान एवं उत्पादक की पहचान एवं प्रत्येक उत्पादक द्वारा की जाने वाली उत्पादन की मात्रा का अनुमान होना अनिवार्य है। यह उत्पादन समिति एवं विनिमय समिति की पूरकता में संभव होता है।

उत्पादन कम होना अभाव है, आवश्यकता से बहुत अधिक उत्पादन होना, विनिमय सुलभता के लिए बाधक है। प्रत्येक वस्तु का लम्बे समय तक कोष बनाना संभव नहीं होता विशेषकर दूध, सब्ज़ी, फल जैसी वस्तुएँ शीघ्रता से उपयोग होना आवश्यक है अन्यथा ये रोग के कारक होते हैं। कुछ अन्न को 1–2 वर्ष तक सुरक्षित रखा जा सकता है। पदार्थावस्था से बने उत्पाद को दीर्घकाल तक सहेज कर रखा जा सकता है। इन सभी प्रकार की वस्तुओं में समयानुसार तालमेल बनाना विनिमय–कोष समिति का कार्य होता है। किसी भी उपयोगी वस्तु का सदुपयोग न होना श्रम की हानि है। अतः इस समिति का कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। यह दायित्व विधि से सफल होता है।

विनिमय नीति में स्थानीय उत्पादित वस्तुओं से ही सम्पूर्ण विनिमय कार्य या अधिकतम विनिमय कार्य होने का प्रबन्ध किया जाता है। सामान्य आवश्यकता की सभी वस्तुएँ ग्राम परिवार व्यवस्था या टोला/ मुहल्ला परिवार व्यवस्था के स्तर पर विनिमय द्वारा सर्वसुलभ होना आवश्यक है। महत्वाकांक्षा की वस्तुओं को दूर से विनिमय किया जाता है। क्योंकि सामान्य आवश्यकता की वस्तुएँ मात्रा में बहुत अधिक होती है। इन्हें बार–बार दूर ले जाने से टूट–फूट या सड़ने–गलने

जैसी संभावना बनी रहती है। विनिमय कार्य में बहुत लोगों को लगना पड़ता है। इससे उत्पादन सेवा जैसे अन्य महत्वपूर्ण कार्य प्रभावित होते हैं। दायित्व पूरा करने पर प्रभाव पड़ता है। साथ ही, विनिमय कार्य के लिए दीर्घकाल तक या बार–बार बाहर जाना–आना स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुकूल नहीं होता है।

यातायात एक श्रम साध्य कार्य है। इसमें बहुत अधिक ईंधन का प्रयोग होता है। ईंधन पर्यावरण असन्तुलन के लिए प्रमुख स्रोत होता है। ईंधन की आवर्तनशील उपलब्धता महत्वाकांक्षा की वस्तुएँ भी अन्य सामान्याकांक्षा में वस्तुओं से कम होती है। अतः आहार, आवास एवं वस्त्र–अलंकार की वस्तुओं का उत्पादन छोटी–से छोटी व्यवस्था की इकाई में होना एवं ग्राम/मुहल्ला स्तर पर विनिमय होना सर्वश्रेष्ठ विनिमय नीति है। यही समृद्धि का प्रधान आधार है।

महत्वाकांक्षा की वस्तुएँ यथा दूरश्रवण, दूरदर्शन एवं दूरगमन के उपकरणों या वस्तुओं का उत्पादन प्रत्येक स्थान पर संभव नहीं है। ये बड़े उद्योगों में गण्य हैं। इनका उत्पादन अनुकूल स्थान में करना आवश्यक है। तभी इनके विनिमय में भी न्यूनतम परिवहन व्यय होता है।

वाहन के कारण वस्तु का श्रम मूल्य बढ़ जाता है क्योंकि परिवहन में लगने वाला ईंधन, वाहन का मूल्य या इसका कुछ अंश एवं परिवहन में लगे व्यक्तियों के सेवा का प्रतिफल भी इसमे जुड़ता है। कुछ टूट–फुट के कारण होने वाले हानि को भी इसी में जोड़ा जाता है। सामान्य नीति यह है कि परिवहन सहित वस्तु का श्रम मूल्य ही वस्तु का कुल श्रम मूल्य होता है। इसमें, स्थानीय उत्पादन को प्राथमिकता देते हैं।

इस प्रकार विनिमय नीति में निम्न बिन्दु प्रधान है :

1. प्रत्येक परिवार के उत्पादन के विनिमय का प्रबंध,

2. प्रत्येक परिवार की समृद्धि सुनिश्चित होना,

3. सामान्य आवश्यकता का विनिमय सबसे छोटी व्यवस्था की इकाईयों में होना,

4. महत्वाकांक्षा एवं बड़े उद्योगों को न्यूनतम परिवहन व्यय में विनिमय करना,

5. परिवहन व्यय एवं आवर्तनशील ईंधन उत्पादन का संतुलन बिंदु पहचानना,

6. श्रम–मूल्य के आधार पर वस्तु विनिमय होना न कि उपयोगिता मूल्य या उपभोग मूल्य,
7. ग्राम/मुहल्ला स्तर पर श्रम मूल्य का मूल्यांकन एवं श्रम विनिमय प्रणाली सुनिश्चित करना,
8. लाभ–हानि मुक्त विनिमय प्रणाली सुनिश्चित होना,
9. प्रत्येक परिवार में कोष सुनिश्चित करना।

इस प्रकार की नीति से प्रत्येक समाधानित परिवार में समृद्धि, समाज में अभय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में सह–अस्तित्व प्रमाणित होता है।

अभ्यास व अध्ययन

पाठ–25

न्याय–सुरक्षा

न्याय–सुरक्षा मानवीय व्यवस्था का एक आयाम है। यह मानवीय व्यवस्था के सबसे छोटी इकाई अर्थात 'परिवार' से ही प्रमाणित होता है। परिवार में ही साथ–साथ जीने का अवसर सर्वाधिक रहता है इसलिए न्याय प्रमाणित होने की स्थान परिवार ही है। यदि परिवार में न्याय प्रमाणित न हो तो उससे बड़ी व्यवस्था में इसके प्रमाणित होने की संभावना और कम होती है।

मूल्य, चरित्र और नैतिकता का संयुक्त रूप मानवीयता पूर्ण आचरण कहलाता है। चरित्र का तात्पर्य स्वधन, स्वनारी/स्वपुरूष एवं दया पूर्ण कार्य–व्यवहार है। मूल्य, मानव सम्बंध में स्थापित रहता है। पूर्णता के अर्थ में अनुबंध ही सम्बंध है। जब भी दो व्यक्ति पूर्णता के अर्थ में जीने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं तभी सम्बंध की पहचान होती है। पूर्णता का तात्पर्य मानव के चारों आयामों में पूर्णता। मानव के चार आयाम व्यवसाय, व्यवहार, विचार एवं अनुभव है।

व्यवसाय : मानव, मनुष्येत्तर प्रकृति के साथ जो श्रम करता है उसे व्यवसाय कहा जाता है। व्यवसाय का उद्देश्य समृद्धि को प्राप्त करना है। समृद्धि प्रमाणित होना ही व्यवसाय में पूर्णता है।

व्यवहार : मानव–मानव की परस्पता में जो श्रम होना है, उसे व्यवहार कहा जाता है। व्यवहार कर्तव्य एवं दायित्व का संयुक्त रूप होता है। व्यवहार का उद्देश्य 'न्याय' को प्रमाणित करना है। न्याय प्रमाणित होने पर अभय होता है। इसके विपरीत अन्याय होने पर भय होता है। इस प्रकार व्यवहार में पूर्णता ही अभय है।

विचार : विचार स्वयं में किया जाता है। विचार में आने वाली वस्तु सम्पूर्ण अस्तित्व है। विचार का उद्देश्य समाधान है। कोई भी व्यक्ति समस्याग्रस्त होने के लिए विचार नहीं करता। समाधान हो जाना ही विचार की पूर्णता है।

अनुभव : व्यवसाय, व्यवहार एवं विचार में एक सूत्रता होना ही तृप्ति है – यही अनुभव है। इसके विपरीत उपरोक्त तीनों आयामों में साविपरीता ही दु:ख है – यही अनुभव का अभाव है। अनुभव

की पूर्णता सह–अस्तित्व में अनुभव है।

इस प्रकार चारों आयामों में पूर्णता पाने के उद्देश्य से एवं चारों आयामों में पूर्णता को प्रमाणित करने के उद्देश्य से प्रतिज्ञाबद्ध होना ही सम्बंध का तात्पर्य है। इसके विपरीत भोग, संग्रह, युद्ध, परपीड़ा के लिए एक जुटता अतृप्ति का कार्यक्रम है। इस प्रकार के प्रवृत्ति से एक से अनेक दुखी होते हैं।

नैतिकता को नीति भी कहते हैं। मन, तन और धन का सदुपयोग नैतिकता कहलाता है। मन का अर्थ यहाँ जीवन है। मन (जीवन) के अनुसार तन चलता है। मन और तन के अनुसार सारी वस्तुएँ अर्थात धन चलती है।

मन, तन और धन के सदुपयोग को संयुक्त रूप में धर्मनीति कहते हैं। तन और धन के सदुपयोग एवं सुरक्षा को राज्यनीति कहते हैं। धन के सदुपयोग एवं सुरक्षा की नीति को अर्थ नीति कहते है।

इस प्रकार धर्म नीति के आधार पर ही राज्यनीति और अर्थ नीति सफल होती है।

असंग्रह, स्नेह, विद्या, सरलता और अभय ये पाँचों को संयुक्त रूप में धर्म पूर्ण विचार कहलाते हैं। धर्म पूर्ण विचार करना ही धर्म नीति है।

असंग्रहः असंग्रह का तात्पर्य आय एवं व्यय में संतुलन है। आय से व्यय कम होना संग्रह कहलाता है। आय से ज़्यादा व्यय होना पराश्रय कहलाता है। इस प्रकार असंग्रह का अर्थ है आवश्यकता को पहचानना एवं उसे पूरा करने के लिए आय (उत्पादन–सेवा) करना। यह समृद्धि का कार्य क्रम ही है।

स्नेह : मानव मानव की परस्परता में सह–अस्तित्व को स्वीकारना, व्यवस्था में जीना एवं व्यवस्था में जीने का प्रेरणा व अवसर प्रदान करना स्नेह है। प्रत्येक मानव में जीवन क्षमता समान है, यह समझ होने पर ही स्नेह का उदय होता है।

विद्या : प्रत्येक वस्तु का सही मूल्यांकन ही विद्या है। यह प्रत्येक वस्तु की व्यवस्था में भागीदारी, पूरकता एवं उपयोगिता की समझ ही है। यदि पूरकता, उपयोगिता एवं व्यवस्था में भागीदारी स्पष्ट

न हो तो अधिमूल्यन, अवमूल्यन या निर्मूल्यन होता है।

सरलता : मानव परम्परा में श्रेष्ठता को पहचानना एवं स्वीकारना ही सरलता है। यही श्रेष्ठता का सम्मान है। मानवीय व्यवस्था में भागीदारी करना श्रेष्ठता है।

अभय : मानवीयता पूर्ण आचरण में स्वीकृति एवं जीना ही अभय है।

इस प्रकार मन, तन एवं धन के सदुपयोग को नैतिकता कहते हैं। नैतिकता, चरित्र और मूल्य अविभाज्य हैं। मूल्य, चरित्र एवं नैतिकता का संयुक्त रूप मानवीयता पूर्ण आचरण कहलाता है। यह व्यवस्था में जीते हुए प्रत्येक मानव का आचरण है। मानव लक्ष्य को प्रमाणित करने का आचरण ही मानवीयता पूर्ण आचरण है।

अभ्यास व अध्ययन